साहित्य-सुमन

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का उनहत्तरवाँ पुष्प

साहित्य-सुमन

[स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्टजी के रसीले लेखों का संग्रह]

प्रकाशक
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२१-३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

तृतीयावृत्ति

सजिल्द १=)] सं० १९८४ वि० [मूल्य ॥=)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष, गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

निवेदन

बहुत दिनों की आशा आज पूर्ण हुई। चिरकाल से निश्चय किए थे कि भट्टजी के रसीले लेख-पुष्प चुन उनके प्रेमियों के सम्मुख रक्खें; लेकिन जभी ही मन किया, काँटे नज़र आए। अस्तु, किसी-न-किसी तरह यह अवसर हाथ आया, और अब यह एक रसीली लेख-मालिका पाठकों के सम्मुख रक्खी जाती है। यह माला टटकी, तत्काल की गुथी हुई नहीं है। भट्टजी के स्वसंपादित ३२ साल के 'हिंदी-प्रदीप' में स्थान-स्थान पर ये लेख जगमगा चुके हैं। पर इनकी तरोताज़गी, चटकीलेपन और रसीलेपन में कहीं से भी बासीपन की गंध नहीं झलकती।

भट्टजी की लेखनी से निकली हुई तीन पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। यह चौथी पुस्तक 'साहित्य-सुमन' के नाम से आज हिंदी-प्रेमियों को भेंट की जाती है। इस लेख-माला में साहित्य और नीति-संबंधी सब २६ लेख चुन-चुनकर रक्खे गए हैं। इन लेखों को पढ़कर भट्टजी की लेखनी का पूर्ण स्वाद मिल सकता है। भट्टजी उन थोड़े-से प्रतिभाशाली लेखकों में से थे, जिन्होंने आधुनिक हिंदी-भाषा के गद्य की नींव डाली है। उन्होंने अपने "हिंदी-प्रदीप" के द्वारा बहुतों को हिंदी लिखना सिखाया। भट्टजी का "हिंदी-प्रदीप" सदा शुद्ध हिंदी की ज्योति से जगमगाता रहा। वह अन्य भाषाओं के उच्छिष्ट लेखों की सहायता से कभी प्रकाशित नहीं हुआ। जिस तरह भट्टजी की भाषा शुद्ध हिंदी रहती थी, उसी तरह उनके लेख भी उन्हीं के विचार की उपज रहते थे, किसी की छाया अथवा अनुवाद नहीं। वह जो कुछ लिखते थे, अपने दिमाग़ से लिखते थे। भट्टजी के लेखों में यह प्रधान गुण है।

भट्टजी की हिंदी में भट्टजी की छाप लगी हुई है। उनकी भाषा उन्हीं की अपनी भाषा है। भट्टजी की भाषा से एक अनोखा रस टपकता है, जो अन्य लेखकों की भाषा में मिलना प्रायः कठिन है। जिस तरह वह अकारण संस्कृत के शब्दों को अपने लेखों में नहीं ठूसते थे, उसी तरह वे उर्दू-फ़ारसी के शब्दों को अपनी भाषा से बीन-बीनकर अलग भी नहीं करते थे। हिंदी लिखते समय वह संस्कृत की विद्वत्ता का बोझ अपनी लेखनी से दूर रखते थे। वह जब कभी संस्कृत-साहित्य की परख अपने हिंदी-पाठकों को कराने के लिये उस पर अपने अनोखे निबंध लिखते थे, तो अपनी विद्वत्ता के भार से पढ़ने-वालों को दबाते न थे, बल्कि संस्कृत-कवियों की कृति और सौंदर्य को अपनी ही स्वाभाविक सरल भाषा में लिखकर पाठकों के सामने रखते थे। भट्टजी जिस विषय पर कोई लेख लिखते थे, भाषा भी उसी के अनुसार रहती थी। यदि वह हास्य या ठठोल लिखते थे, तो भाषा भी वैसीही हास्य और ठठोल से भरी रहती थी; यदि किसी पर कटाक्ष करते थे, तो भाषा भी व्यंग्य-पूर्ण रहती थी; यदि शृंगार-रस लिखते थे, तो भाषा भी रसीली और शृंगारमयी रहती थी; और यदि कोई गंभीर विषय उठाते, तो भाषा भी गंभीर और साहित्य के गुणों से पूर्ण रहती थी। यह भी भट्टजी के लेखों का एक दूसरा प्रधान गुण है। इस संग्रह में दिए गए लेखों से पाठकों को भट्टजी की भाषा का थोड़ा-बहुत स्वाद अवश्य मिल जायगा।

यही समझकर इसे प्रकाशित करने का साहस किया गया है।

विनीत—

लक्ष्मीकांत भट्ट

प्रवचन

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के समकालीन पं० बालकृष्ण भट्ट वर्तमान युग की हिंदी के जन्मदाताओं में समझे जाते हैं। वह भारत-माता के गत शताब्दी के उन अल्प-संख्यक सुपुत्रों में थे, जो किसी-न-किसी रूप में मातृभूमि की सेवा को अपने जीवन का प्रधान उद्देश बना, नर-जन्म के साफल्य का उदाहरण संपादन कर गए हैं।

इस गुटिका में जो भट्टजी के लेख संगृहीत हैं, वे उनकी उच्च धारणा और अनाक्रम्य सत्य-प्रियता के प्रतिबिंब हैं, उनकी सार्वलौकिक हित-निष्ठा के साथ ही उनकी असाधारण प्रतिभा और बुद्धि-प्रखरता के साक्षी हैं। इनका अध्ययन पाठक को असामान्य मनस्विता के असीम साम्राज्य में ले जाकर अपरिमित मनोज्ञता की सैर कराता है। जिस समय के लिखे हुए ये लेख हैं, उस समय का चिंतन करते समय सहृदय पाठक के हृदय में लेखक की सुरुचि और प्रवणता की ओर प्रेमाप्लुत श्रद्धा उदित होती है, और उनका चटकीलापन चित्त में चिरस्थिरता प्राप्त करता प्रतीत होता है। शैली का यत्किंचित् अनोखापन जो यत्र-तत्र पाया जाता है, वह भी इनकी उपादेयता को बढ़ाता ही है, और एक विशेष कौतूहल का उत्पादक है।

हिंदी-भाषा की चारों ओर प्रतिपल फैलती हुई बढ़ती में यह आशा कि यह संग्रह अल्प काल ही में अनेक आवृत्तियों का सौभाग्य अनुभव करेगा, एक अल्प बात है। आशा है, समय की प्रगति के साथ इन लेखों की ओर लोक-रुचि उत्तरोत्तर परिवर्द्धित होती जायगी।

श्रीपद्मकोट,
प्रयाग, फाल्गुन कृ० १४,
सं० १६७५

श्रीधर पाठक

विषय-सूची

साहित्य-सुमन

१—साहित्य जन-समूह के हृदय का विकास है

प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के हृदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलुप्त रहती है, वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं। मनुष्य का मन जब शोक-संकुल, क्रोध से उद्दीप्त, या किसी प्रकार की चिंता से दोचित्ता रहता है, तब उसकी मुखच्छवि तमसाच्छन्न, उदासीन और मलिन रहती है; उस समय उसके कंठ से जो ध्वनि निकलती है, वह भी या तो फुटही ढोल के समान बेसुरी, बेताल, बेलय या करुणा-पूर्ण, गद्गद तथा विकृत स्वर-संयुक्त होती है। वही जब चित्त आनंद की लहरी से उद्वेलित हो नृत्य करता है और सुख की परंपरा में मग्न रहता है, उस समय मुख विकसित कमल-सा प्रफुल्लित, नेत्र मानो हँसता-सा, और अंग-अंग चुस्ती और चालाकी से फिरहरी की तरह फरका करते हैं, कंठध्वनि भी तब वसंत-मदमत्त कोकिला के कंठरव से भी अधिक मीठी और सोहावनी मन भाती है। मनुष्य के संबंध में इस अनुल्लंघनीय प्राकृतिक नियम का अनुसरण प्रत्येक देश का साहित्य भी करता है; जिसमें कभी क्रोधपूर्ण भयंकर गर्जन, कभी प्रेम का उच्छ्वास, कभी शोक और परिताप-जनित हृदय-विदारी करुणा-निस्वन, कभी वीरता-गर्व से बाहुबल के दर्प में भरा हुआ सिंहनाद, कभी भक्ति के उन्मेष से चित्त की द्रवता का परिणाम अश्रुपात आदि अनेक प्रकार के प्राकृतिक भावों का

उद्‌गार देखा जाता है। इसलिये साहित्य यदि जन-समूह (Nation) के चित्त का चित्रपट कहा जाय, तो संगत है। किसी देश का इतिहास पढ़ने से केवल बाहरी हाल हम उस देश का जान सकते हैं; पर साहित्य के अनुशीलन से क़ौम के सब समय के आभ्यंतरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं।

हमारे पुराने आर्यों का साहित्य वेद है। उस समय आर्यों की शैशवावस्था थी; बालकों के समान जिनका भाव, भोलापन, उदार भाव, निष्कपट व्यवहार वेद के साहित्य को एक विलक्षण तथा पवित्र माधुर्य प्रदान करते हैं। वेद जिन महापुरुषों के हृदय का विकाश था, वे लोग मनु और याज्ञवल्क्य के समान समाज के आभ्यंतरिक भेद, वर्ण-विवेक आदि के झगड़ों में पड़ समाज की उन्नति या अवनति की तरह-तरह की चिंता में नहीं पड़े थे; कणाद या कपिल के समान अपने-अपने शास्त्र के मूलभूत बीजसूत्रों को आगे कर प्राकृतिक पदार्थों के तत्त्व की छान में दिन-रात नहीं डूबे रहते थे; न कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष आदि कवियों के संप्रदाय के अनुसार वे लोग कामिनी के विभ्रम-विलास और लावण्यलीला-लहरी में ग़ोते मार-मार प्रमत्त हुए थे। प्रातःकाल उदयोन्मुख सूर्य की प्रतिमा देख उनके सीधे-सादे चित्त ने बिना कुछ विशेष छानबीन किए उसे अज्ञात और अजेय शक्ति समझ लिया। उसके द्वारा वे अनेक प्रकार का लाभ देख कानन-स्थित विहंग-कूजन-समान कलकल-रव से प्रकृति की प्रभात वंदना का साम गाने लगे; जल-भार-नत श्यामला मेघ-माला का नवीन सौंदर्य देख पुलकितगात्र हो कृतज्ञता-सूचक उपहार की भाँति स्तोत्र का पाठ करने लगे; वायु जब प्रबल वेग से बहने लगी, तो उसे भी एक ईश्वरीय शक्ति समझ उसके शांत करने को वायु की स्तुति करने लगे इत्यादि। वे ही सब ऋक् और साम की पावन ऋचाएँ हो गईं। उस समय अब के समान राजनीतिक अत्या-

चार कुछ न था, इसी से उनका साहित्य राजनीति की कुटिल उक्ति-युक्ति से मलिन नहीं हुआ था। नए आए हुए आर्यों की नूतन ग्रथित समाज के संस्थापन में सब तरह की अपूर्णता थी सही, पर सबका निर्वाह अच्छी तरह होता जाता था; किसी को किसी कारण से किसी प्रकार का अस्वास्थ्य न था; आपस में एक दूसरे के साथ अब का-सा बनावटी कुटिल बर्ताव न था। इसलिये उस समय के उनके साहित्य वेद में भी कृत्रिम भक्ति, कृत्रिम सौहार्द्र, कपट-वृत्ति, बनावट और छुवाछुवी ने स्थान नहीं पाया। उन आर्यों का धर्म अब के समान गला घोटनेवाला न था। सबके साथ उनकी सहानुभूति खान-पान द्वारा रहती थी। उनके बीच धार्मिक मनुष्य अब के धर्मध्वजियों के समान दांभिक बन महाव्याधि सदृश लोगों के लिये गलग्रह न थे। सिधाई, भोलापन और उदारभाव उनके साहित्य के एक-एक अक्षर से टपक रहा है। एक बार महात्मा ईसा एक सुकुमार-मति बालक को अपने गोद में बैठाकर अपने शिष्यों की ओर इशारा करके बोले कि जो कोई छोटे बालकों के समान भोला न बने, उसका स्वर्ग के राज्य में कुछ अधिकार नहीं है। हम भी कहते हैं, जो सुकुमार-चित्त वेदभाषी इन आर्यों की तरह पद-पद में ईश्वर का भय रख, प्राकृतिक पदार्थों के सौंदर्य पर मोहित होकर, बालकों के समान सरलमति न हो, उसका स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करना अति दुष्कर है।

इन्हीं प्राकृतिक पदार्थों का अनुशीलन करते-करते इन आर्यों को ईश्वर के विषय में जो-जो भाव उदय हुए, वे ही सब एक नए प्रकार का साहित्य उपनिषद् के नाम से कहलाए। जब इन आर्यों की समाज अधिक बढ़ी और लोगों की रीति-नीति और बर्ताव में विभिन्नता होती गई, तब सबोंको एकता के सूत्र में बद्ध रखने के लिये और अपने-अपने गुण-कर्म से लोग चल-विचल हो सामाजिक

नियमों को जिसमें किसी प्रकार की हानि न पहुँचावे, इसलिये स्मृतियों के साहित्य का जन्म हुआ। मनु, अत्रि, हारीत, याज्ञवल्क्य आदि ने अपने-अपने नाम की संहिता बना विविध प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक और धर्म-संबंधी विषयों का सूत्रपात किया। उन्हीं के समकालीन गौतम, कणाद, कपिल, जैमिनि, पतंजलि आदि हुए, जिन्होंने अपने-अपने सोचने का परिणाम-रूप दर्शन-शास्त्रों की बुनियाद डाली। यहाँ तक जो साहित्य हुए, उनमें यद्यपि वेद की भाषा का अनुकरण होता गया, परंतु नित्य-नित्य उनकी भाषा अधिक-अधिक सरल, कोमल और परिष्कृत होती गई। तथापि उनकी गणना वैदिक भाषा में ही की जाती है। इन स्मृतियों और आर्ष-ग्रंथों की भाषा को हम वैदिक और आधुनिक संस्कृत के बीच की भाषा कह सकते हैं। अब से संस्कृत के दो खंड होते चले, जो वेद तथा लोक के नाम से कहे जाते हैं। पाणिनि के सूत्रों में, जो संस्कृतपाठियों के लिये कामधेनु का काम दे रहे हैं, और जिनसे वैदिक और लौकिक सब प्रयोग सिद्ध होते हैं, लोक और वेद की निरख अच्छी तरह की गई है। और, इसी वेद और लोक के अलग-अलग भेद से साबित होता है कि संस्कृत किसी समय प्रचलित भाषा थी, जो लोगों के बोलचाल के बर्ताव में लाई जाती थी।

वेद के उपरांत रामायण और महाभारत साहित्य के बड़े-बड़े अंग समझे गए। रामायण के समय भारतीय सभ्यता का प्रेमोच्छ्वास-परिप्लावित नूतन यौवन था; किंतु महाभारत के समय भारतीय सभ्यता क्षति-ग्रस्त हो वार्द्धक्य भाव को पहुँच गई थी। रामायण के प्रधानपुरुष रघुकुलावतंस श्रीरामचंद्र थे; और भारत के प्रधान पुरुष, बुद्धि की तीक्ष्णता के रूप, कूट-युद्धविशारद, भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण या उनके हाथ की कठपुतली युधिष्ठिर थे। रामायण के

समय से भारत के समय में लोगों के हृद्गत भाव में कितना अंतर हो गया था कि रामायण में दो प्रतिद्वंद्वी भाई इस बात के लिये विवाद कर रहे थे कि यह समस्त राज्य और राज्यसिंहासन हमारा नहीं है, यह सब तुम्हारे ही हाथ में रहे। अंत में रामचंद्र भरत को विवाद में पराभूत कर समस्त साम्राज्य उनके हस्तगत कर आप आनंद-निर्भर-चित्त हो सस्त्रीक वनवासी हुए। वही महाभारत में दो दायाद भाई इस बात के लिये कलह करने पर सन्नद्ध हुए कि जितने में सुई का अग्रभाग ढँक जाय, उतनी पृथ्वी भी बिना युद्ध के हम न देंगे—"सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव"। परिणाम में एक भाई दूसरे पर जयलाभ कर तथा जंघा में गदाघात और मस्तक पर पदाघात से उसे वध कर भाई के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हो सुख में फूल अनेक तरह के यज्ञ और दान में प्रवृत्त हुआ। रामायण और महाभारत के आचार्य क्रम से कवि-कुल-गुरु वाल्मीकि और व्यास थे। पृथ्वी के और-और देशों में इनके समान या इनसे बढ़कर कवि नहीं हुए, ऐसा नहीं है। यूनान-देश में होमर, रोम-देश में वरजिल, इटली में डेंटी, इँगलैंड में चासर और मिल्टन अपनी-अपनी असाधारण प्रतिभा से मनुष्य-जाति का गौरव बढ़ाने में कुछ कम न थे। परंतु विचित्र कल्पना और प्रकृति के यथार्थ अनु-करण में चिरंतन वृद्ध वाल्मीकि के समान होमर तथा मिल्टन किसी अंश में नहीं बढ़ने पाए, जिनकी कविता के प्रधान नायक श्रीरामचंद्र आर्य-जाति के प्राण, दया के अमृत-सागर, गांभीर्य और पौरुष दर्प की मानो सजीव प्रतिकृति थे। वे प्रीति और समभाव से महानीच जाति चांडाल तक को गले से लगाते थे। उन्होंने लंकेश्वर-से प्रबल प्रतिद्वंद्वी शत्रु को भी कभी तृण के बराबर भी नहीं समझा। स्वर्णमंडित सिंहासन और तपोवन में पर्णकुटी उन्हें एक-सी सुखकारी हुई। उनके स्मित-पूर्वाभिभाषित्व और उनकी बोलचाल की मुग्ध माधुरी

पर मोहित हो दंडकारण्य की असभ्य जाति ने भी अपने को उनका दास माना। अहा! धन्य श्रीरामचंद्र का अलौकिक माहात्म्य, धन्य वाल्मीकि की कल्पना-सरसी, जिसमें ऐसे-ऐसे स्वर्णकमल प्रस्फुटित हुए।

काल के परिवर्तन की कैसी महिमा है, जो अपने साथ-ही-साथ मानुषी प्रकृति के परिवर्तन पर भी बहुत कुछ असर पैदा कर देता है। वाल्मीकि ने जिन-जिन बातों को अवगुण समझ अपनी कल्पना के प्रधान नायक रामचंद्र में बरकाया था, वे ही सब व्यास के समय में गुण हो गईं, जिनकी कविता का मुख्य लक्ष्य यही था कि अपना मान, अपना गौरव, अपना प्रभुत्व जहाँ तक हो सके, न जाने पावे। भारत के हरएक प्रसंग का तोड़ अंत में इसी बात पर है। शत्रु-संहार और निज कार्यसाधन-निमित्त व्यास ने महाभारत में जो-जो उपदेश दिए हैं, और राजनीति की काट-ब्योंत जैसी-जैसी दिखाई है, उसे सुन बिस्मार्क-सरीखे इस समय के राजनीति के मर्म में कुशल राजपुरुषों की अक्ल भी चरने चली जाती होगी। इससे निश्चय होता है कि प्रभुत्व और स्वार्थ-साधन तथा प्रवंचना-परवश भारतवर्ष उस समय कहाँ तक उदार भाव, समवेदना आदि उत्तम गुणों से विमुख हो गया था। युधिष्ठिर धर्म के अवतार और सत्यवादी प्रसिद्ध हैं; पर उनकी सत्यवादिता निज कार्य-साधन के समय सब खुल गई। "अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा" इत्यादि कितने उदाहरण इस बात के हैं; किंतु उन्हें विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखते।

महाभारत के उपरांत भारत और-का-और ही हो गया। उसकी दशा के परिवर्तन के साथ-ही-साथ उसके साहित्य में भी बड़ा परिवर्तन हो गया। उपरांत बौद्धों का ज़ोर हुआ। ये सब वेद और ब्राह्मणों के बड़े विरोधी थे। वेद की भाषा संस्कृत थी। इसलिये उन्होंने संस्कृत को बिगाड़ प्राकृत भाषा जारी की। तब से संस्कृत

सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा न रही। फिर भी संस्कृतभाषी उस समय बहुत-से लोग थे, जिन्होंने इस नई भाषा को प्राकृत नाम दिया, जिसके अर्थ ही यह हैं कि प्राकृत अर्थात् नीचों की भाषा। अतएव संस्कृत-नाटकों में नीच पात्र की भाषा प्राकृत और उत्तम पात्र ब्राह्मण या राजा आदि की भाषा संस्कृत रक्खी गई है। कुछ काल उपरांत यह भाषा भी बहुत उन्नति को पहुँची। शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्द्धमागधी, पैशाची आदि इसके अनेक भेद हैं। इसमें भी बहुत-से साहित्य के ग्रंथ बने। गुणाढ्य कवि का आर्याबद्ध लच श्लोक का ग्रंथ बृहत्कथा प्राकृत ही में है। सिवा इसके शालिवाहन-सप्तशती आदि कईएक उत्तम प्राकृत के ग्रंथ और भी मिलते हैं। नंद और चंद्रगुप्त के समय इस भाषा की बड़ी उन्नति की गई। जैनियों के सब ग्रंथ प्राकृत ही में हैं; उनके स्तोत्र-पाठ आदि भी सब इसी में हैं। इससे मालूम होता है कि प्राकृत किसी समय वेद की भाषा के समान पवित्र समझी गई थी।

संस्कृत यद्यपि बोलचाल की भाषा इस समय न रह गई थी, पर हरएक विषय के ग्रंथ इसमें एक-से-एक बढ़-चढ़कर बनते गए। और, साहित्य की तो यहाँ तक तरक्की हुई कि कालिदास आदि कवियों की उक्ति-युक्ति के मुक़ाबले वेद का भद्दा और रूखा साहित्य अत्यंत फीका मालूम होने लगा। कालिदास की एक-एक उपमा पर और भवभूति, भारवि, श्रीहर्ष, बाण की एक-एक छटा पर वेद के उम्दा-से-उम्दा सूक्त, जिनमें हमारे पुराने आर्यों ने मरपच-साहित्य की बड़ी भारी कारीगरी दिखलाई है, न्योछावर हैं। संस्कृत के साहित्य के लिये विक्रमादित्य का समय "अगस्टन पीरियड" कहलाता है, अर्थात् उस समय संस्कृत, जहाँ तक उसके लिये परिष्कृत होना संभव था, अपनी पूर्ण सीमा तक पहुँच गई थी। यद्यपि भारवि, माघ, मयूर प्रभृति कईएक उत्तम कवि धाराधिपति भोजराज के समय तक और

उनके उपरांत भी जगन्नाथ पंडितराज तक बराबर होते ही गए; किंतु संस्कृत के परिष्कृत होने की सामग्री उस समय तक पूरी हो चुकी थी। भोज का समय तो यहाँ तक कविता की उन्नति का था कि एक-एक श्लोक के लिये असंख्य इनाम राजा भोज कवियों को देते थे। वेद का साहित्य उस समय यहाँ तक दब गया था कि छांदस मूर्ख की एक पदवी रक्खी गई थी। केवल पाठ-मात्र वेद जाननेवाले छांदस कहलाते थे, और वे अब तक भी निरे मूर्ख होते आए हैं।

बौद्धों के उच्छेद के उपरांत एक ज़माना पुराण के साहित्य का भी हिंदुस्तान में हुआ। उस समय बहुत-से पुराण, उपपुराण और संहिताएँ दो ही चार सौ वर्ष के हेर-फेर में रची गईं। अब हम लोगों में जो धर्मशिक्षा, समाज-शिक्षा और रीति-नीति प्रचलित हैं, वह सब शुद्ध वैदिक एक भी नहीं हैं। थोड़े-से ऐसे लोग हैं, जो अपने को स्मार्त मानते हैं। उनमें तो अलबत्ता अधिकांश वेदोक्त कर्म का यत्किंचित् प्रचार पाया जाता है, सो भी केवल नाम-मात्र को; पुराण उसमें भी बीच-बीच आ घुसा है। हमारी विद्यमान छिन्न-भिन्न दशा, जिसके कारण हज़ार-हज़ार चेष्टा करने पर भी जातीयता हमारे में आती ही नहीं, सब पुराण ही की कृपा है। जब तक शुद्ध वैदिक साहित्य हम लोगों में प्रचलित था, तब तक जातीयता के दृढ़ नियमों में ज़रा भी अंतर नहीं होने पाया था। पुराणों के साहित्य के प्रचार से एक बड़ा लाभ भी हुआ कि वेद के समय की बहुत-सी घिनौनी रीतियों और रस्मों को, जिनके नाम लेने से भी हम घिना उठते हैं, और उन सब महाघोर हिंसाओं को, जिनके सबब से अपने अहिंसा-धर्म के प्रचार करने में बौद्धों को सुविधा हुई थी, पुराणकर्ताओं ने उठाकर शुद्ध सात्त्विकी धर्म को विशेष स्थापित किया। अनेक मत-मतांतरों का प्रचार भी पुराणों की ही करतूत है। पुराणवाले तो पंचायतन-पूजन ही तक से संतोष करके रह गए। तंत्रों ने बड़ा संहार

किया। उन्होंने अनेक क्षुद्र देवता—भैरव, काली, डाकिनी, शाकिनी, भूत, प्रेत तक—की पूजा को फैला दिया। मद्य-मांस के प्रचार को, जिसे बौद्धों ने तमोगुणी और मलिन समझ उठा दिया था, तांत्रिकों ने फिर बहाल किया। पर बल-वीर्य की पुष्टता से, जो मांसाहार का प्रधान लाभ था, ये लोग फिर भी वंचित ही रहे। निःसंदेह तांत्रिकों की कृपा न होती, तो हिंदुस्तान ऐसा जल्द न डूबता। वेद के अधिकारी शुद्ध ब्राह्मण के लिये तांत्रिक दीक्षा या तंत्र-मंत्र अति निषिद्ध हैं। ब्राह्मण तंत्र के पठन-पाठन से बहुत जल्द पतित हो सकता है, यह जो किसी स्मृतिकार का मत है, हमें भी कुछ-कुछ सयुक्तिक मालूम होता है। बहुत-से पुराण तंत्रों के बाद बने। उनमें भी तांत्रिकों का सिद्धांत पुष्ट किया गया है।

हम ऊपर लिख आए हैं कि हिंदू-जाति में क़ौमियत के छिन्न होने का सूत्रपात पुराणों के द्वारा हुआ, और तंत्रों ने उसे बहुत पुष्ट किया। शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध इत्यादि अनेक जुदे-जुदे फ़िरके हो गए, जिनमें इतना दृढ़ विरोध क़ायम हुआ कि एक दूसरे के मुँह देखने के रवादार न हुए, तब परस्पर का एका और सहानुभूति कहाँ रही! जब समस्त हिंदू-जाति की एक वैदिक संप्रदाय न रही, तो वही मसल चरितार्थ हुई कि "एक नारि जब दो से फँसी; जैसे सत्तर वैसे अस्सी"। हमारी एक हिंदू-जाति के असंख्य टुकड़े होते-होते यहाँ तक खंड हुए कि अब तक नए-नए धर्म और मतप्रवर्त्तक होते ही जाते हैं। ये टुकड़े जितना वैष्णवों में अधिक हैं, उतना शैव-शाक्तों में नहीं और आपस में एक का दूसरे के साथ मेल और खान-पान जितना कम इनमें है, उतना औरों में नहीं। राम के उपासक कृष्ण के उपासक से लड़ते हैं, कृष्ण के उपासक रामोपासकों से इत्तिफ़ाक़ नहीं रखते। कृष्णोपासकों में भी सत्यानासिन अनन्यता ऐसी आड़े आई है कि यह इनके आपस ही में बड़ा खटपट लगाए रहती है।

प्राकृत के उपरांत हमारे देश के साहित्य के दो नमूने और मिलते हैं, एक पद्मावत और दूसरा पृथ्वीराज-रायसा। पद्मावत की कविता में तो किसी क़दर कुछ थोड़ा-सा रस है भी; पर पृथ्वीराज-रायसा में तारीफ़ के लायक़ कौन-सी बात है—यह हमारी समझ में बिलकुल नहीं आता। प्राकृत से उतरते-उतरते हमारी विद्यमान हिंदी इस शकल में कैसे आई, इस बात का पता अलबत्ता रायसा से लगता है। मत-मतांतर के साथ-ही-साथ हमारी भाषा भी गुजराती, मरहठी, बंगाली इत्यादि के भेद से प्रत्येक प्रांत की जुदी-जुदी भाषा हो गई। इन एकदेशी भाषाओं में बंगाली सबसे अधिक कोमल, मधुर और सरस है; मरहठी महाकठोर और कर्ण-कटु; तथा पंजाबी निहायत भद्दी, कठोर और रूखापन में उर्दू की छोटी बहन है।

अब अपनी हिंदी की ओर आइए। इसमें संदेह नहीं, विस्तार में हिंदी अपनी बहनों में सबसे बड़ी है। व्रजभाषा, बुंदेलखंडी, बैसवारे की तथा भोजपुरी इत्यादि इसके कईएक अवांतर-भेद हैं। व्रजभाषा में यद्यपि कुछ मिठास है, पर यह इतनी ज़नानी बोली है कि इसमें सिवा शृंगार के दूसरा रस आ ही नहीं सकता। जिस बोली को कवियों ने अपने लिये चुन रक्खा है, वह बुंदेलखंड की बोली है। इसमें सब प्रकार के काव्य और सब रस समा सकते हैं। अपनी-अपनी पसंद निराली होती है—"भिन्नरुचिर्हि लोकः"। हमें बैसवारे की मर्दानी बोली सबसे अधिक भली मालूम होती है। दूसरी भाषाएँ जैसे मरहठी, गुजराती, बँगला की अपेक्षा कविता के अंश में हिंदी का साहित्य बहुत चढ़ा हुआ है तथा संस्कृत से कुछ ही न्यून है। किंतु गद्य-रचना "प्रोज़" हिंदी का बहुत ही कम और पोच है। सिवा एक प्रेमसागर-सी दरिद्र रचना के इसमें और कुछ है ही नहीं, जिसे हम इसके साहित्य के भांडार में शामिल करते।

दूसरे उर्दू इसकी ऐसी रेढ़ मारे हुए हैं कि शुद्ध हिंदी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं। प्रसंग-प्राप्त अब हमें यहाँ उर्दू के साहित्य की समालोचना का भी अवसर प्राप्त हुआ है; किंतु यह विषय अत्यंत ऊब पैदा करनेवाला हो गया है, इससे इसे यहीं पर समाप्त करते हैं। उर्दू की समालोचना फिर कभी करेंगे।

२—मनुष्य की बाहरी आकृति मन की एक प्रतिकृति है

बुद्धिमानों ने वेदादि ग्रंथों में मन के अनेक जुदे-जुदे काम लिखे हैं। तद्यथा—

> यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति;
> दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

अर्थात्—जो जाग्रत् दशा में दूर-से-दूर चला जाता है, अर्थात् जो मनुष्य के शरीर में रहता हुआ भी दैवी शक्ति-संपन्न है, जो सोती दशा में लय को प्राप्त होता है, अर्थात् न-जाने कहाँ-कहाँ चला जाता है, जो जागते ही फिर लौटके आ जाता है, अर्थात् पहले के समान अपना सब काम करने लगता है, जो दूरगामी है, अर्थात् जहाँ नेत्र आदि इंद्रियाँ नहीं जा सकतीं, वहाँ भी पहुँच जाता है, जो भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनों को जान सकता है, जो प्रकाशात्मक है, अर्थात् जिसके प्रकाश से अतिवाहित हो इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों में जा लगती हैं, वह मेरा मन कल्याण की बातों का सोचनेवाला हो।

> सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव;
> हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं यविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

अर्थात्—अच्छा सारथी बागडोर के द्वारा जैसे घोड़ों को ले जाता है, वैसे ही जो मन प्राणिमात्र को सारथी के सदृश ले चलता है, जो कभी जीर्ण नहीं होता, अर्थात् शरीर में जैसे बाल्य, यौवन और बुढ़ापा आ जाते हैं, वैसे ही जिसमें बाल्य, यौवन और बुढ़ापा नहीं आते, जो अत्यंत वेगगामी है, ऐसा मेरा मन कल्याण की बातों का सोचनेवाला हो।

इस मन की भावनाएँ या तरंगें जो प्रतिक्षण इसमें उठा करती हैं, मनुष्य के बाहरी आकृति से प्रकट होती हैं। इसलिये इस बाहरी आकृति को यदि मन की एक प्रतिकृति कहा जाय, तो अनुचित न होगा। किसी के चेहरे को देखकर कोई कहता है कि इनके चेहरे पर ज़नानापन बरस रहा है। यह ज़नानापन क्या चीज़ है? यही मन की एक प्रतिकृति है, जो सर्वथा उस प्रकृति के विरुद्ध है, जो पुरुष-जाति की होनी चाहिए। पुरुषों के समान वीरता, उत्साह आदि पौरुषेय गुण स्त्रियों के मन में कहाँ रहते हैं। इसी तरह स्त्रियाँ भी बहुतेरी ऐसी होती हैं, जो कितनी बातों में मर्दों के कान काटती हैं, जिनसे यही प्रकट होता है कि अनेक पौरुषेय गुण उनके मन में बसे रहते हैं। ऐसा ही शूर-वीर का चेहरा कायर और भगोड़े से, नम्र का अभिमानी से, ज़िद्दी-हठीले का सरल सीधे स्वभाववाले से, कुटिल का सरल से, चालाक का गावदी से नहीं मिलता। इतना ही नहीं, जगत् के बाह्य प्रपंच का जो कुछ असर चित्त पर होता है, वह सब आदमी के चेहरे से प्रकट हो जाता है। किसी रूपवती सुंदरी नारी को देख कामी, दार्शनिक या विरक्त योगी के मन में जो असर पैदा होता है और जो भावनाएँ चित्त में उठती हैं, वे सब अलग-अलग उन-उन लोगों के चेहरे से ज़ाहिर हो जाती हैं। कामी कामातुर हो आपे के बाहर हो जाता है, लाज और शरम को जलांजलि देकर हज़ारों चेष्टाएँ उससे मिलने की करता है, दिन-रात विकल रहता है और अपनी कोशिश से कामयाब न हो कभी-कभी तो वियोग में ज़िंदगी से हाथ धो बैठता है। ऐसे ही दार्शनिक तत्त्ववेत्ता ज्ञानी उस सुंदरी को पांच-भौतिक पदार्थों का परिणाम मान, उसके एक-एक अंग की शोभा निरख, सृष्टिकर्ता की निर्माण-चातुरी पर मन-ही-मन प्रसन्न होता है। विरक्त ज्ञानी उसे हाड़, मांस, विष्ठा, मूत्र आदि मलिन और दूषित पदार्थों की समष्टि समझ मन में वैराग्य-प्रदीप के प्रकाश को अधिक स्थान देता

है। इसी तरह धन देख चोर, साह, लोभी कदर्य के मन में जुदे-जुदे भाव उदय होते हैं, जिनकी तस्वीर प्रत्येक के चेहरे पर उतर आती है। चोर का मन धन देखते ही उसके लेने की फ़िकर में लगता है। उसका यह मानसिक भाव आँख और चेहरे से स्पष्ट हो जाता है। दियानतदार उस धन को साधारण वस्तु जान बेजा किसी का एक पैसा न लेना इस दृढ़ निश्चय को उस धन से अधिक क़ीमती मानता हुआ उसी के अनुसार बर्तता है। यह भाव उसकी उदार, प्रसन्न मुखच्छवि, ईषत् हास्ययुक्त फरकते हुए ओष्ठ आदि मर्दाने ढंग से प्रकट हो जाता है। लोभी और कदर्य का बाहरी आकार, जिसका रुपया ही सब कुछ है और जो "मर जैहों तोहि न भजैहों" वाली कहावत का नमूना है, उसकी मलिन राक्षसी प्रकृति को अच्छी तरह से प्रकट करता है। बाहरी आकार से मन की बात पहचाननेवाले बुद्धिमान् इसके द्वारा अपना बड़ा-बड़ा काम निकाल लेते हैं। यह एक हुनर है। पुलिस के महकमे में कितने ऐसे ताड़बाज़ इस फ़न के उस्ताद हैं, जो देखते ही चोर, ठग या ख़ूनी को पहचान लेते हैं, जिससे साफ़ ज़ाहिर है कि आकृति मन की प्रतिकृति है। इसी तरह किसी भक्तजन की मुख-च्छवि से मन में भक्ति के उद्गार की बानगी ज़ाहिर होती है। पहचाननेवाले कपटी, मक्कार, दांभिक-से सरल, सीधे, सच्चे भक्त को चट पहचान लेते हैं। बुद्धिमानों ने मन की मुकुर के साथ उपमा दी है। मुकुर में जो प्रतिबिंब पड़ता है, उसका नमूद बाहरी आकृति ही में होता है।

बाह्य आकृति सर्वोपरि मुख है, जिससे मानसिक भाव चट प्रति-बिंबित हो जाता है। मन में किसी प्रकार की वेदना या विकार उत्पन्न होते ही फिर उसका छिपाना कठिन ही नहीं, बरन् असंभव है। मन की कोई बात यदि प्रकट होगी, तो मुख्यतर मुख ही के

द्वारा। किसी मनुष्य को यदि कोई मानसिक वेदना है, या उसने चार दिन से कुछ नहीं खाया, या वह और किसी प्रकार की पीड़ा से आक्रांत है, तो उसके लाख: छिपाने पर भी मुख पर अवश्य ही कुछ शिकन-सी मालूम पड़ेगी और उस पीड़ा का असर अवश्य मुख पर झलक पड़ेगा। यदि न झलके, तो वह उस योगी के समान है, जिसने मन को जीत लिया है। जिस समय चित्त में कुछ विकार रहता है, उस समय आदमी के चेहरे से वह मानसिक भाव चट प्रकट हो जाता है। जिस समय चित्त में क्रोध रहता है, तो भौं चट चढ़ जाती हैं, आँख लाल हो जाती हैं, चेहरा तमतमा उठता है। इसी तरह जब कुछ शोक का उदय मन में रहता है, तो बाह्य आकृति उदास, चेहरा उतरा हुआ, मुख मलिन, आँख में आँसू डबडबाया रहता है। इसी तरह भयभीत का चेहरा ज़र्द, मुँह सूखा हुआ, आकृति नितांत दीन-हीन होती है। जब चित्त प्रसन्न रहता है, तब बाह्य आकृति टटके फूले हुए गुलाब की-सी, चेहरा मनोहर और रौनक़दार मालूम होता है। ये सब लक्षण तात्कालिक चित्त और चेहरे के परिवर्तन के हैं। इसी तरह बहुत-से चिह्न चेहरे या और-और अंगों के भी होते हैं; वे चिह्न, चाहे मनुष्य के हों या किसी पशु-पक्षी के हों, उसके मानसिक भाव को प्रकट करते हैं। मुख से मानसिक भाव प्रतिबिंबित होता है। यह सामुद्रिक विद्या का एक सूत्र है, जो मालूम होता है, बहुत जाँच के बाद निश्चित किया गया है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में पंचमहापुरुष के लक्षण तथा एक-एक अध्याय में गौ, बैल, बकरा, मेढ़ा, हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि पशुओं के अलग-अलग लक्षण दिए हैं। पंचमहापुरुष के लक्षण जैसे, बड़े-बड़े नेत्र, चौड़ा लिलार, उतार-चढ़ावदार सीधी सुग्गा की टोंट-सी नासिका, गद्देदार सीधी ठुड्डी इत्यादि भाग्यवानी के चिह्न हैं। कंजी आँखवाला, कोती गरदनवाला तथा पस्तक़द

अवश्य कुटिल और फ़सादी होगा । एवं जिसके आगे के दो दाँत बड़े हों, वह मूर्ख न होगा। इसी प्रकार "क्वचित् खल्वाट् निर्द्धनः" इस वाक्य के अनुसार यह प्रायः देखा गया है कि खल्वाट या गंजी चाँदवाला अर्थात् जिसके चाँद में बाल न हों, वह कदाचित् ही निर्द्धन होगा । कानी आँखवाला साधु न होगा; आजानु-लंबबाहु अर्थात् जिसका हाथ इतना लंबा हो कि खड़े होने पर घुटने तक छू जाय, वह बड़ा वीर, विक्रांत, दानी, उदार प्रकृतिवाला होगा। स्त्रियों में जिसके शरीर में रोआँ अधिक हो, वह चंडी, कलहप्रिया, महाकर्कशा होगी और जल्द विधवा हो जायगी इत्यादि । इसी से लिखा है—

"आकारैरेव चतुरास्तर्कयन्ति परेंगितम् ।"

अर्थात्—चतुर लोग चेहरा देखते ही मन में क्या है, चट भाँप लेते हैं। सचमुच यही तो चतुराई है। चेहरा देखते ही मन में तुम्हारे क्या है, न जान गए, तो चतुर और गावदी में अंतर ही क्या रहा। साधारण मनुष्यों का मन टटोलना तो कुछ बड़ी बात नहीं है, अलबत्ता ऐसों का मन टटोलना कठिन है, जो या तो बड़े गंभीर हैं या महाकुटिलहृदय हैं। ऐसों ही के मानसिक भाव के विवेचन के लिये सामुद्रिक का यह सूत्र है—

"मुख से मानसिक भाव प्रतिबिंबित होता है।"

तो सिद्ध हुआ कि मुख मानो एक मुकुर या दर्पण है, जिसमें चित्त की छाया पड़ा करती है। कोई मनुष्य भाग्यवान् है या अभागा, मूर्ख है या विद्वान्, चतुर है या गावदी, चालाक-सयाना है या सीधासादा इत्यादि, इन सब बातों का परिज्ञान आदमी के चेहरे ही से होता है और यह परिज्ञान केवल बुद्धिमान् ही को हो सकता है। यह बात केवल एक व्यक्ति पर नहीं, वरन् समस्त जाति पर सुघटित होती है। चेहरा या शरीर का निर्माण उस जाति की

मानसिक शक्ति प्रकट करता है। फसड़ी नाक, मोटे होंठ, मोटे बाल जैसे हबशियों के होते हैं, बुद्धितत्त्व के ह्रास के द्योतक हैं। जिसमें ये लक्षण मिलते हों, अवश्य उसमें बुद्धितत्त्व की कमी होगी। केवल यही नहीं, वरन् वह अक्ल का भोंड़ा और शरारत का पुतला होगा। जानवरों में भी एक-एक गुण ऐसा देखा जाता है, जिससे उस विशेष गुण का उसी से नाम पड़ गया है। जैसे "काकचेष्टा" अर्थात् कौए की-सी चेष्टा, "बकध्यान" बगुले के समान ध्यान लगाना। अब जिसकी चेष्टा कौए की-सी या ध्यान बगुले के समान हो या जिसके चेहरे पर कौवा-बगुले का-सा भाव प्रकट होता हो, बस जान लेना चाहिए कि इसमें उस जीव का कुछ गुण अवश्य है। इसी तरह पर "घोड़मुहा" अर्थात् घोड़े का-सा लंबा मुँहवाला कुनही और जी का कपटी होगा। यही बात खुखरी-सा मुँहवाले में होगी इत्यादि। और भी भारी सिरवाला बुद्धि का तीक्ष्ण और गंभीर विचार में प्रवीण होगा। लंबकर्ण अर्थात् जिसके कान के नीचे की लौर लंबी होगी, वह अवश्य दीर्घजीवी होगा। जिसकी जीभ प्रमाण से अधिक लंबी होगी वह या तो चटोरा या बड़ा बकवादी होगा। निदान "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" सामुद्रिक शास्त्र का यह सिद्धांत बहुत ही ठीक है। इसी से कालिदास आदि कवियों ने बड़े लोगों के शरीर के वर्णन में—

"व्यूढोरस्को वृषस्कंधः शालप्रांशुर्महाभुजः ;
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः।"

इत्यादि अनेक श्लोक इस विषय के लिखे हैं।

३—कवि और चितेरे की डाँड़ामेड़ी

इन दोनों की डाँड़ामेड़ी हम इसलिये कहते हैं कि मनुष्य तथा प्रकृति के भावों को ये दोनों ही प्रकट किया चाहते हैं—कवि लेखनी और शब्दों के द्वारा, चितेरा अपनी "तूलिका" (रंग भरने की कूची) और भाँति-भाँति के विभिन्न रंगों से। काम दोनों का बहुत बारीक और अति कठिन है। केवल इतना ही नहीं, किन्तु एक प्रकार की लोकोत्तर प्रतिभा दोनों के लिये आवश्यकीय है। किसी कवि का यह श्लोक हमारे इस आशय को भरपूर पुष्ट करता है—

नामरूपात्मकं विश्वं यदिदं दृश्यते द्विधा ;
तत्राद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुखः ।

अर्थात्—नाम और रूपात्मक जो दो प्रकार का यह संसार देख पड़ता है, उसमें से आदि अर्थात् नामात्मक जगत् का निर्माणकर्ता कवि है, और दूसरे का ब्रह्मा।

जानाति यन्न चन्द्रार्कौ जानन्ति यन्न योगिनः ;
जानीते यन्न भर्गोऽपि तज्जानाति कविः स्वयम् ।

अर्थात्—इस दृश्य जगत् के साक्षी-रूप सूर्य और चंद्रमा जिस बात को नहीं जानते, परोक्ष ज्ञानवान् योगीजन जिसे नहीं जानते और किसकी कहें, सर्वज्ञ सदाशिव भी जो बात नहीं जानते, उसे कवि अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के बल से जान लेता है।

कवि की प्रतिभा जिस भाव के वर्णन से लोकोत्तर चातुरी प्रकट कर दिखाती है, अच्छा निपुण चितेरा उसी को अपनी प्रतिभा से चित्र के द्वारा दिखला देता है। अच्छा चितेरा कवि के एक-एक श्लोक या दोहे के नीचे उसी भाव की ठीक तस्वीर खींच सकता है

और तब इन दोनों में कहाँ तक तुलना है, इसका ठीक परिज्ञान हो सकता है, किंतु इन दोनों की कारीगरी के परीक्षक भी बड़े निपुण होने चाहिए। दोनों के काम की बारीकी और सूक्ष्म सौंदर्य के पेखने को पैनी दृष्टि चाहिए। इस तरह के परीक्षक कोई बिरले नागरिक जन होते हैं। उत्तम काव्य तथा चित्र के समझने को एक ही तरह की सूक्ष्म और तीखी समझ चाहिए। कवि और चित्रकार की कल्पना-शक्ति भी बिलकुल एक-सी है।

अब रहा "उपादान-कारण" या सामान, अर्थात् कवि के लिये वाग्-विभव और चितेरे के लिये रंग का चटकीलापन इत्यादि, सो जिसके पास जैसा होगा, वैसा ही वह काव्य तथा चित्र बना सकेगा; क्योंकि कवि तथा चितेरे के लिये बाह्य वस्तु, जैसे वन, नदी, पर्वत आदि के वर्णन, की अपेक्षा मानसिक भावों का प्रकाश कविता तथा चित्र के द्वारा अधिक कठिन है। जिसे चित्रकार (shades) रंग की ज़रा-सी झाँई में प्रकट कर दिखाता है, उसी का प्रकट करना कवि के लिये इतना दुरूह है कि बेहद दिमाग़ पची करने पर दो-चार सत्कवियों ही के काव्य में यह ख़ूबी पाई जाती है। फिर भी उतनी सफ़ाई काव्य में न आवेगी। चित्र में अंतर्लीन मनोगत भाव सहज में दरशाया जा सकता है। मनोगत भावों का प्रकाश कालिदास और शेक्सपियर इन्हीं दो के काव्यों में विशेष पाया जाता है। मनोगत भाव जैसा हर्ष, शोक, भय, घृणा, प्रीति इत्यादि के उदाहरण साहित्य-दर्पण के तीसरे परिच्छेद में अच्छी तरह संगृहीत कर दिए गए हैं। यह बात कवि और चितेरे में बताने और सिखाने से उतना नहीं आती, जितना स्वाभाविक बोध (Intuitive Perception) से होती है, किंतु फिर भी फ़र्क़ इतना ही रहेगा कि कवि जिस आशय या भाव को बहुत-से शब्दों में लावेगा, उसे चित्रकार तूलिका (रंग भरने की कूची) के एक हलके-से झोंक (Touch) में प्रकट कर देगा और कवि के वर्णित आशय का स्वरूप सामने खड़ा कर देगा।

चित्रकारी से कविता में इतनी विशेष बात है कि चित्र उतना चिरस्थायी न रहेगा, जितना कविता रह सकती है। तस्वीर तथा काव्य से मनुष्य की प्रकृति का पूरा परिचय मिल जाता है। हमारे यहाँ के अमीरों के ड्राइंग-रूम में नंगी तस्वीरों का रहना फ़ैशन में दाख़िल हो गया है। लखनऊ के नवाबों के ख़िलवतगाह में वेश्या और हसीनों की तस्वीर न हो, तो उनकी हुस्नपरस्ती में ख़ामी समझी जाय। उर्दू-फ़ारसी के काव्यों का प्रधान अंग केवल शृंगार-रस है। आशिक़ी-माशूक़ी का दास्तान जिसमें न हो, वह कोई शायरी ही नहीं है। उस भाषा के शायर इश्क़ को जैसी उम्दी तरह पर कह सकते हैं, वैसा उम्दा और नव-रसों में दूसरे रस का वर्णन उनसे न बन पड़ेगा, और सो भी उनका इश्क़ बहुधा पुरुषों पर होगा, स्त्रियाँ उनकी माशूक़ा बहुत कम पाई जाती हैं। हमारे देश के रामागतीवाले भद्दी पसंद के महाजनों तथा मारवाड़ियों की दूकानों पर बनारस की बनी निहायत भद्दी देवताओं की भोंड़ी तस्वीर के सिवा और कुछ न पाइएगा, जिन तस्वीरों की भद्दी चित्रकारी के सामने मानो कलकत्ते का आर्ट-स्टूडियो और पूना की चित्रशाला झख मारती है। इनकी निराली पसंद के ठीक उपयुक्त "दानलीला", "मानलीला" इत्यादि के आगे हम लोगों के प्रौढ़ लेख की चातुरी कब इनके मन में स्थान पा सकती है। किसी ने कहा है—

"ये गाहक करवीन के तुम लीनी कर बीन।"

इसी तरह प्रकृति के प्रेमियों को शांति-उत्पादक वन, पर्वत, आश्रम, नदी का पुलिन, ऋतु, हरियाली आदि के चित्र पसंद आते हैं। उनके स्थान पर जाने से प्रायः ऐसे ही चित्र पाइएगा। किसी अँगरेज़ी के विद्वान् का कथन है—"A picture in the room is the picture of the mind of the man who hangs it." अर्थात् कमरों में लटकी हुई तस्वीर लटकानेवाले के मन की तस्वीर

है। इसी तरह पर भक्तजनों के घर जाइए, तो संत, महंत, महापुरुषों के चित्र पाइएगा, जिनके देखने-मात्र से एक अद्भुत शांति-रस का उद्गार मन में आ जायगा। पॉलिटिक्स की मदिरा के नशे में चूर प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों के स्थान पर कामवेल, बिस्मार्क-सरीखे पटुबुद्धिवालों का चित्र देखिएगा, बाल-विवाह की सर्वस्व नाश करनेवाली कुरीति ने हिंदू-जाति के संतानों की वृद्धि और उपचय को कहाँ तक सत्यानाश में मिलाया, किस घृणित दशा में इनको पहुँचा दिया। और इस कुरीति की विषमय वायु से बचकर मनुष्य बल, पुष्टता, तेज, कांति, सौंदर्य का कहाँ तक संचय कर सकता है, इस बात को प्रत्यक्ष करने के लिये हमें चाहिए कि मुग़ल तथा योरप-देश के कमनीय बालक, युवती और दृढ़ांग पुरुषों की कुछ तस्वीरें अपनी चित्रसारी में टाँग रक्खें और सदैव उनको देखा करें।

कवि और चितेरे में कहाँ तक डाँडामेड़ी या परस्पर की स्पर्द्धा है— इसे हम अपने पाठकों को दरशा चुके हैं। अब इन दोनों में बड़ा अंतर केवल इतना ही है कि सभ्यता का सूर्य ज्यों-ज्यों उठता हुआ मध्याह्न को पहुँचता जाता है, त्यों-त्यों चित्रकारी में नई-नई तराश-ख़राश की बारीकी चौगुनी होती जाती है; पर कवियों की वाग्देवी जिस सीमा को पहले ज़माने में पहुँच चुकी है, उससे बराबर अब तक घटती ही गई, यद्यपि हाल की सभ्यता, बुद्धि-वैभव, शाइस्तगी के मुक़ाबले वह ज़माना बहुत पीछे हटा हुआ था। लॉर्ड मेकॉले ने अपने एक लेख में इस बात को बहुत अच्छी तरह पर सिद्ध कर दिखाया है। मेकाले कहते हैं कि "लोग इस सभ्यता के समय दर्शन, विज्ञान और दूसरी-दूसरी बुद्धि का विकास करनेवाली बातों में प्रवीणता प्राप्त कर पहले की अपेक्षा अधिक सोच सकते हैं, अनेक ग्रंथों के सुलभ हो जाने से अधिक जान सकते हैं सही, किंतु उस अपनी सोची या जानी हुई बात को बुद्धि की अधिक

पैनी आँख से देखना उन पुराने कवियों ही को आता था।" इसमें संदेह नहीं, इन दिनों के विशेषज्ञ विद्वान् तर्क बहुत अच्छा कर सकेंगे, जो बात उनके तर्क की भूमिका है, उसका रूप खड़ा कर देंगे, अत्यंत साधारण बात को अपने वाग्जाल से महाजगड्वाल कर डालेंगे, विज्ञान और शिल्प में नई-नई ईजाद कर खुदाई का भी दावा करने को सन्नद्ध हो जायँगे; पर उन कवियों की प्रतिभा-स्वरूप सूक्ष्म बुद्धि की छाया भी न पा सकेंगे। जिसे उन्होंने दो अक्षर के एक शब्द में सरस और गंभीर भाव पूर्ण करके प्रकट किया है, उसे ये आधे दर्जन शब्दों में भी न प्रकाशित कर सकेंगे। हमारे कवियों की पैनी बुद्धि का कारण यह भी है कि पूर्वकाल में जब हमारी समाज बालक-दशा में थी, उनके लिये "ज्ञातव्य-विषय" (जानने के लायक़ बात) बहुत थोड़े थे। जिधर उन्होंने नज़र दौड़ाई, उधर ही उन्हें नए-नए जानने के योग्य पदार्थ मिलते गए। बुद्धि उनकी विमल थी, चित्त में किसी तरह का कुटिल भाव नहीं आने पाया था; क्योंकि समाज अब के समान प्रौढ़ दशा को नहीं पहुँची थी; इसलिये बहुत बातों में सभ्यता की बुरी हवा का झकोरा भी उन शिष्ट पुरुषों तक न पहुँच सका था। जब पात्र बड़ा होगा, और जो वस्तु उस पात्र में रक्खी जायगी, वह कम होगी, तो वह वस्तु उसमें बहुत अच्छी तरह समा सकेगी। बुद्धि उनकी जैसी तीव्र और विमल थी, वैसा ही मन में उनके किसी तरह की कुटिलता और मैल न रहने से जिस बात के वर्णन में उन्होंने अपने ख़याल को रुजू किया, वह सांगोपांग पूरा उतरा। तात्पर्य यह कि एक अर्थात् कविता के लिये यह नई सभ्यता विष हो गई, दूसरी अर्थात् चित्रकारी के लिये वह अमृत का काम दे रही है। इसी से काव्य दिन-दिन घटता गया, और चित्रकारी रोज़-रोज़ बढ़ती गई।

४—पुरुष-अहेरी की स्त्रियाँ अहेर हैं

> "Man is the hunter, and woman is his game,
> The sleek and shining creature of the chase;
> We hunt them for the beauty of their skins."
>
> Tennyson.

यह बड़ी पुरानी कहानी है। शिशुता की झलक के मिटते ही ज्यों ही तरुणाई की गरमाहट का संचार होने लगता है कि यह अहेरी चारों ओर अपने अहेर की खोज में आँखें दौड़ाने लगता है। पर लाचार केवल इतने ही से हो जाता है कि किसी-किसी अवस्था में समाज के जटिल बंधन उसे ऐसा जकड़ लेते हैं कि वह अपने स्वेच्छाचार को बर्ताव में नहीं ला सकता और कभी-कभी अपने हस्तगत शिकार को भी छोड़ बैठता है। यह नरपशु तभी तक सुमार्ग पर चलता है, तभी तक स्वभाव का सरल, विनीत और साधु है और तभी तक लोक-लाज, लोक-निंदा तथा अपवाद या राजदंड की यातना से बचा हुआ है, जब तक दबसट में पड़ा हुआ अपने स्वेच्छाचार में प्रवृत्त नहीं हो सकता। कितनी ऐसी दंत-कथाएँ, गँवारू क़िस्से-कहानियाँ, जो गाँव के केवल दश-पाँच घर तक प्रचलित हैं, और बहुत-से ऐसे इतिहास, कथा, हादसे और वर्णन, जिन्हें कवियों ने पद्यबद्ध कर डाला है, जैसे पद्मावत, आल्हा-ऊदल की कहानी, रामायण, होमर की इलियड, युसुफ़-जुलेख़ा, लैला-मजनू इत्यादि और प्रसिद्ध नावेल (उपन्यास) जो अँगरेज़ी और फ़्रांस की भाषा में लिखे गए हैं, हमारे इस लेख के उदाहरण हैं। बल्कि उन-उन उपन्यासों की भूमिका में ही आप यह पाइएगा कि अमुक ड्यूक या प्रिंस या शाहज़ादा ने अमुक सुंदरी, नाज़नीन या हूर की ख़ूबसूरती

या गोरे चाम पर आशिक़ हो इतनी-इतनी तकलीफ़ें उठाई और अंत को वह अपने प्रयत्न में इस तरह पर कृतकार्य हुआ या जान तक से हाथ धो बैठा। इसी गोरे चाम की लालच या तलाश में सैकड़ों-हज़ारों हमारे भाई मुसलमान और क्रिस्तान हो गए और रावण-सरीखे न-जाने कितने जड़-पेड़ से उच्छिन्न हो गए। पुरानी तवारीख़ें गवाही दे रही हैं कि मुग़लों की मुग़लानी और पठानों की पठानी का निचोड़ यही था। एक-दो कौन कहे, उनका हरम-का-हरम इस गोरे चाम के शिकार से भरा हुआ था। हम लोगों में औरतों को परदे में रखने के दस्तूर की बुनियाद भी यही हुआ। बाल्य-विवाह की कुरीति इसी कारण से चल पड़ी कि कन्याओं को सात भाँवर फिराकर किसी को सौंप दें, जिसमें उसके सतीत्व की रक्षा रहे और जवानी की झलक आने पर कहीं ऐसा न हो कि दुष्ट अत्याचारी यवन अहेरी इसे अपना शिकार कर डालें। और शिकारों से इस शिकार में यह बड़ा ही अनूठापन है कि तरुणी जन पहले एक बार दूसरे का अहेर बन जन्मपर्यंत उस अहेर करनेवाले को उलटा अपना शिकार बना लेती हैं, और उसके तन, मन, धन सब-का अहेर कर पुरुष-पशु को घरेलू जानवर, क्रीडामृग, खेलौना, क्रीत-दास, या वशंवद तथा ताबेदार कर लेती हैं। नूरजहाँ ने जहाँगीर को जो नाच नचाया, वह मदारी अपने बंदर को क्या नचावेगा। एक बार जहाँगीर का शिकार बन उसने जन्म-भर के लिये दिल्ली के नामी बादशाह को बिल्ली बनाकर रख छोड़ा। जहाँगीर केवल नाम का बादशाह रह गया, सलतनत का कुल इंतिज़ाम नूरजहाँ करती थी। जहाँगीर ने एक आम हुक्म दे दिया था कि जिस सिक्के पर उसके नाम के साथ नूरजहाँ का नाम खुदा हो, उस सिक्के का दाम सौ-गुना अधिक समझा जाय। जहाँगीर का एक दृष्टांत एक उपलक्षण-मात्र है; किंतु हम-तुम सब इसी भँवर-जाल में पड़े गोते खा रहे हैं।

५—हमारे मन की मधुप-वृत्ति

आदमी का मन भी एक क्या ही गोरख-धंधा है, जिसे नई-नई बात सुनने, नए-नए दृश्य देखने तथा नई-नई चीज़ सीखने की सदा अभिलाषा रहती है। मनुष्य को इन बातों की ओर झुकावट और उनको खोजने की लालसा परिपक्वबुद्धि होने पर उपजती हो, सो नहीं, वरन् लड़कपन से ही, जब वह अत्यंत सुकुमार-मति रहता है, इस बात का अंकुर उसके चित्त में जमता है। कोई बालक कैसा ही खिलवाड़ी हो, उसे भी खेल के नए रास्ते की खोज होगी, और यह तो बहुधा देखने में आया है कि जो लोग दिन-भर कोई फ़ायदे का काम नहीं करते, वरन् खेल-कूद में दिन गँवाते हैं, उनको भी जिस दिन कोई नया तरीक़ा खेलने या दिल बहलाने का मिल जाता है, उस दिन उनके चित्त की प्रसन्नता का ओर-छोर नहीं रहता। परंतु सच पूछिए तो निरे खेल-कूद में दिन काटना मनुष्यत्व या मनुष्य-शब्द के अर्थ पर आक्षेप करना है। हमारे यहाँ के मननशील पूर्वकाल के दार्शनिकों ने आदमी का पर्याय जो मनुष्य रक्खा है, सो यही देख-कर कि वह अपनी भली या बुरी दशा को सोच सकता है, उसके चारों ओर जो संसार के अनेक प्राकृतिक कार्य हो रहे हैं, उनका भेद लेकर उनकी असलियत जान सकता है, और नित्य नई विद्या और विज्ञान की वृद्धि कर सकता है। वह ज़िंदगी को मज़ेदार करने की ज़रूरत पैदा करता जाता है और उन आवश्यकताओं को पूरा कर अपने जीवन को सुख और आराम से काटने का नया-नया ढंग बढ़ाता जाता है। यही कारण है कि आज दिन जो सैकड़ों तरीक़े आराम और आशाइस के निकल पड़े हैं, हमारे पहले के लोगों का

कभी स्वप्न में भी उन पर ध्यान नहीं गया था। ऐसा मालूम होता है कि आदमी का दिमाग़ कबूतर के दरबों-सा है, जिनमें एक समय केवल थोड़े-से कबूतर और उनके अंडे-बच्चे थे; ज्यों-ज्यों कबूतरों की सृष्टि बढ़ती गई, त्यों-त्यों दरबे के ख़ाने भी बढ़ते गए। कदाचित् यही दशा आदमी के दिमाग़ और उसमें भरे हुए विविध विषयों की भी है। हमारा केवल विज्ञान-संबंधी विद्याओं से प्रयोजन नहीं है, किंतु उन सब शास्त्रों और विद्याओं से भी है, जो मनुष्य के घर-गृहस्थी के कामों में उठते-बैठते, चलते-फिरते, प्रतिक्षण हमारे उपयोग में आ सकती हैं। हम समझते हैं, इस बात के स्वीकार करने में आपको कुछ आगा-पीछा न होगा कि इन्हीं सब नई ईजादों का यह फल हुआ कि आदमी की अक़्ल और चालाकी पर मानो सान-सी रख दी गई है। हज़ारों नए-नए धंधे लोगों को काम में लगा रखने के ऐसे निकले, जिनकी हमारे यहाँ की पूर्वकाल की समाज में कोई उपयोगिता ही न थी। ज्यों-ज्यों समाज पुष्ट पड़ती गई और सभ्यता का प्रादुर्भाव होने लगा, त्यों-त्यों नई ईजाद होती गई और अब इस नई सभ्यता के ज़माने में तो एक-से-एक अचंभे की नई-नई बातें सुनने और देखने में बराबर आ रही हैं। इसलिये यह कहना कि विज्ञान या मनुष्य के सोचने का परिणाम कोई दूसरी विद्या अपने हद और छोर को पहुँच गई, बड़ी भूल होगी। हम तो कुछ ऐसा सोचते हैं कि मनुष्य का जन्म ही नई-नई वस्तुओं के खोजने के लिये हुआ है। इसी से यह सिद्धांत बड़ा पक्का मालूम होता है कि दुनिया रोज़-रोज़ तरक़्क़ी पाती जाती है; और जो बातें पहले के लोगों के कभी मन में भी न आई थीं, उन्हें अब हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। हमारा मन मधुप की-सी वृत्ति धारण किए है। जैसे भँवरा टटके-से टटके सुगंधित फूलों को ढूँढ़ता फिरता है, वैसे ही हम प्रकृति-माली की सींची हुई इस अनोखी संसार-वाटिका में, जिसका ओर-छोर

नहीं है, नई-नई वस्तु ढूँढ़ते फिरते हैं। हमारे दार्शनिकों ने मन में चंचलता का महादोष आरोपित किया है। हम कहते हैं कि निस्तब्ध, निश्चेष्ट हमारा वह बुझा हुआ मन किस काम का, जिसमें उत्साह और ज़िंदादिली को ठहरने के लिये स्थान ही नहीं मिलता। मन वही है, जिसे क्षण-क्षण में अनोखी टटकी बातों के जानने और सोचने का उत्साह रहता है।

६—प्रेम के बाग़ का सैलानी

"प्रेम का बाग़" यह हम इसलिये कहते हैं कि इस बाग़ में सब भाँति प्रेम ही प्रधान है। प्रेम ही इस बाग़ का माली है, प्रेम ही की सुगंधित कली हृदय के आलबाल में खिल इस बगीचे के सैलानी को प्रमुदित करती है। इस प्रेम-वृक्ष की जड़ बहुत नीचे है। इसकी प्रस्फुटित कली वियोग की एकांत चिंता-ओस से सिंचित हो मुरझाने पर भी अपनी महक नहीं छोड़ती; किंतु बार-बार की सुधरूपी प्रातःसमीरण से अधिक-अधिक पुष्ट पड़ती जाती है, और अपने प्रेमी से मिलने की प्रखर इच्छा के सूर्योदय से इस कली की आशा-रूपी पखुरियाँ खुलती जाती हैं। इसके चारों ओर भाँति-भाँति के मनोरथ के वृक्ष हैं, जिनमें कोई फूलते-फलते हैं, किसी में केवल पत्ते-ही-पत्ते देख पड़ते हैं और किसी के अंकुर-मात्र निकलकर रह गए हैं। इस प्रेम-वृक्ष की मुकुलित दशा सौंदर्य है, जिसकी अनिर्वचनीय शोभा आदि से अंत तक वर्णन कर कौन पार पा सकता है। मन गुलाब प्रफुल्लित और इच्छा-वायु के झोंके से प्रेरित हो बार-बार इसके चुंबन को झुकता है। इसके स्वर्गीय बीज को सौंदर्य का चोखा परखनेवाला पक्षी उस स्थल से उठा लाया है, जिसको वैकुंठ-भवन का सार-प्रदेश कह सकते हैं। विषयी कामीजन, जो नित्य नई जारिणी ललनाओं के विलास-लालसा में लालायित रहते हैं और झूठी चाह दिखला पाकदामन सावित्री-सी सती कुलांगनाओं को बहकाया करते हैं, कभी इसकी पवित्रता का अनुभव कर सकते हैं? कभी नहीं। इसको तो वही जान सकता है, जो अपने आराम और सुख से हाथ धो दूसरे के सुख में प्रसन्न होनेवाला है। इस प्रेम की

धारा का प्रवाह यद्यपि भोगवती गंगा की भाँति पाताल में गुप्त है, किंतु उदारभाव के साथ जो प्रेम के सच्चे पुजेरी हैं, उनके लिये इसकी प्रच्छन्न विमल धारा में ग़ोते मारना बहुत सहज है। इससे निश्चय हुआ कि निश्छलता, अकुटिलभाव, सचाई ये सब प्रेम के बड़े पक्के सहवर्ती हैं।

अहा! "प्रेम" यह शब्द ही कैसा कोमल और मधुर है। सब पुस्तकों के सिद्धांत का सारांश इस दो अक्षर के एक शब्द में रख दिया गया है।

"दो ही आखर प्रेम का पढ़े, सो पंडित होय।"

प्रेमासक्त वियोगी की एक ही ठंडी साँस एकसाथ चारों समुद्र के उमड़ आने से प्रलय-काल की आँधी का नमूना है। संयोग और वियोग में अनंत कोटि स्वर्ग और नरक के सुख-दुःख की झलक दिखलाई पड़ती है। प्रेम महामोह का सारभूत, निश्चलता का लौहस्तंभ, करुणा का अपार समुद्र, नैराश्य का गगनस्पर्शी उच्च पर्वत, सहिष्णुता का जनक, मन की गति का सीमा-चिह्न, सुख और दुःख दोनों का निश्चित सिद्धांत है। भय और निर्भयता, लालसा और वैराग्य, ढिठाई और शरम, नैराश्य और आशा, शोक और हर्ष, दोनों विरुद्धधर्माश्रयी भी परस्पर प्रतिस्पर्द्धी हो अपनी पूरी ताक़त से इसके साथ लगे रहते हैं। यह हृदय के उस तहख़ाने के खोलने की कुंजी है, जिसके भीतर अनंत आनंद-रत्न-राशि का आकर सुगम है। यह एक विचित्र ऐनक है, जिसको आँख पर रखते ही जुदे-जुदे रंग की वस्तु सब एक रंग की दीखने लगती हैं, और यह अपना है तथा यह पराया है—इस द्वैविध्य की जड़ कट जाती है। यह भाव हृदय में उदय होते ही मनुष्य पृथ्वी-भर को अपना ही समझने लगता है और—

"उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्।"

इस वचन का अनुगामी हो जाता है।

प्रेम की अकथ कहानी को आद्योपांत कौन वर्णन कर सकता है? यदि कुछ भी हम इसका वर्णन करना चाहें, तो केवल इतना ही कह सकते हैं कि भक्ति, आदर, ममता, आनंद, वैराग्य, करुणा आदि जो भाव प्रतिक्षण मनुष्य के चित्त में उठा करते हैं, उन सबों के मूल-तत्त्व को एक में मिलाकर उसका इत्र निकाला जाय, तो उसे हम "प्रेम" इस पवित्र नाम से पुकार सकेंगे। तो निश्चय हुआ कि जो इस प्रेम के बाग़ का सैलानी हुआ चाहे, तो पहले इन पूर्वोक्त गुणों से अपने को भरा-पुरा कर ले तब इस बाग़ के भीतर जाने का मन करे। संसार में ऐसे इने-गिने दो-चार भाग्यवान् पुरुष होंगे, जो प्रेम की कसौटी में कसे जाने पर ठहर सकेंगे और उन्हीं के लिये प्रेम की वाटिका का विस्तार यहाँ हमने दिखलाया है। सच है—

प्रेम-सरोवर यह अगम, यहाँ न आवत कोय;
आवत सो फिर जात नाहिं, रहत यहाँ का होय।

७—संसार-महा नाट्यशाला

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, पंचमहाभूत की बनी यह विस्तृत नाट्यशाला उस चतुरशिरोमणि, सकल-गुण-आगार, नटनागर, महानट, अनोखे खेलवाड़ी, सूत्रधार के खेलवाड़ की ऐसी रंगभूमि है, जिसमें दृश्य अदृश्य रूप से भासता हो, वह दर्शकों की दृष्टि से माया-मयी यवनिका के भीतर छिप अपने महाविराट वैभव के अनेकों ऐसे अभिनय किया करता है, जिनमें, शृंगार, वीर, करुणा आदि नवों रस बारी-बारी स्थायी और संचारी होते हुए तमाशबीनों को अद्भुत तमाशे दिखलाते हैं। स्वभाव-मधुराकृति प्रकृति उस महासूत्रधार की सहचारिणी नर्तकी इस नाट्यशाला की नटी है। पृथक्-पृथक् नाम-रूप में विचित्र वेषधारी जीव-समूह सब उस बड़े नटनागर की नाट्य-लीला के सहायक सहकारी नट हैं। इस अद्भुत नाट्यशाला का अभि-नय रातोदिन हर घंटे, हर घड़ी, प्रतिपल, प्रतिनिमेष, अविच्छिन्नरूप से हुआ करता है—कोई खास घंटा या मिनट मुक़र्रर नहीं है कि इस समय से इस समय तक अभिनय होगा और इस समय इस नाट्य-शाला का दरवाज़ा खुलेगा। न फ़ीस का कोई नियम है कि अमुक-अमुक तमाशबीनों से इस-इस दरजे की फ़ीस ली जायगी। उस बड़े नटनागर ने सबोंको अपना अभिनय देखने की आज्ञा दे रक्खी है। उसकी नज़र में कोई छोटा या बड़ा है ही नहीं। उसका प्राणिमात्र पर एक भाव और सबोंके साथ एक-सा बर्ताव है—

> "बाबा वह दरबार हमारा, हिंदू-मुसलमान से न्यारा ;
> जहाँ जनेऊ, सुनत न होई, पंडित, मुल्ला बसे न कोई।"

समस्त जीवराशि का निरंतर कोलाहल इस नाट्यशाला की संगीत

है। एक ओर जयध्वनि-पूरित हर्षनिस्वन, दूसरी ओर क्लेश और करुणा में भरी हुई रोने की आवाज़ तथा जीवराशि-रूपी अद्भुत यंत्र के अनोखे तान दर्शकों के मन में एक ही क्षण हर्ष और शोक में मिला हुआ अनिर्वचनीय भाव पैदा करते हैं। सूर्य, चंद्रमा, ग्रह, नक्षत्र, सरित्, समुद्र, अभ्रंलिह, अत्युच्च शिखरवाले हिमधवलित पर्वत इत्यादि कारण-सामग्री लाखों वर्ष की पुरानी हो जाने पर भी उनके द्वारा जो अभिनय दिखलाए जाते हैं, वे सब नए-से-नए और टटके-से-टटके होते हैं। अचिंत्य-चातुर्य-समन्वित, विराट् मूर्त्तिमय यह संपूर्ण जगत् देख देखनेवाले के मन में रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत आदि रस एकसाथ स्थान पाते हैं और उस "पुरुष पुरातन", "महाकवि" की महिमा का विस्तार प्रतिपद में प्रकट करते हैं।

अब अंतर उस बड़े नट के नाटक और हम लोगों के नाटक में यह है कि हम लोग इस दृश्य-काव्य नाटक में असल की नक़ल कर दिखलाते हैं और वह अपने नाटक में जो कुछ नक़ल कर रहा है, वह माया जवनिका के कारण हमें असल और सत्य मालूम होता है। देखनेवालों के चित्त में उसकी भाँति-भाँति की नक़ल का यहाँ तक सच्चा असर होता है कि वे विवश हो झूठ को सच मान तदाकार हो जाते हैं और उसके अचिंत्य दिव्य रूप को, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, बड़े-से-बड़ा, ऊँचे-से-ऊँचा, दूर-से-दूर, समीप-से-समीप है, सर्वथा भूल जाते हैं तथा उसे और-का-और समझ ग़ोते खाया करते हैं। और निन्नानवे के फेर में पड़ इस चक्कर के बाहर कभी होते ही नहीं। माया की फाँसी से जकड़े हुए हम लोग उससे अपने को अलग मान अपनी भलाई और तरक़्क़ी की अनेक चेष्टा करते हैं किंतु किसी अदृष्ट दैवी शक्ति से प्रेरित हो जो चाहते हैं, वह नहीं होता—

"अपना चेता होत नहिं, प्रभु-चेता तत्काल"

जिसका कभी सपने में भी ख़याल नहीं किया जाता, वह आ

पड़ता है। हमें पात्र बनाकर जिस अभिनय को उसने हमारे द्वारा करना आरंभ किया था, वह यदि पूरा उतर आया, तो हम फूले नहीं समाते और भाग्यवानों की श्रेणी में अपना अव्वल दरजा क़ायम कर लेते हैं। सर्वथा स्वच्छंद निरंकुश हो उस छिपी दैवी शक्ति पर ज़रा भी ध्यान न दे "हम सब भाँति समर्थ हैं" यही समझने लगते हैं; बड़े शूरवीर योद्धा सम्राट् चक्रवर्ती जिनकी एक बार की भ्रुकुटि-विक्षेप में भूडोल आ जाने की संभावना है, उनके भी हम महाप्रभु हैं; राम, युधिष्ठिर तथा सिकंदर और दारा प्रभृति विजेता जगद्विजयी हमारे आगे किस गिनती में हैं; उशना और वाचस्पति को तो हमारा वाग्वैभव देख शरम आती ही है; चतुरानन भी अपनी चतुराई भूल अचरज में आकर हक्का-बक्का बन बैठता है; हम सब भाँति सिद्ध हैं, पूर्णकाम हैं; न हमारे सदृश किसी ने यज्ञ किया होगा, न हम-सा दानी कोई दूसरा है; आज हमने एक मुल्क फ़तेह किया, कल दूसरा अपने वश में कर लेंगे, अपने विपक्षी शत्रुओं को बीन-बीनकर खा डालेंगे, एक को भी जीता न छोड़ेंगे; कटक से अटक तक हमारी पताका फहरा रही है, संसार की कोई जाति या फ़िरक़े नहीं बचे, जिनके बीच यदि हमारा नाम लिया जाय, तो वे थर्रा न उठते हों; हम सभ्यता की चरम सीमा को पहुँचे हैं, किसकी इतनी हिम्मत या ताक़त है, जो हमारी बराबरी कर सके; तुम जित हो, हम विजेता हैं, हम तुम्हारे स्वामी हैं, प्रभविष्णु हैं; हम जो करेंगे या सोचेंगे, सब तुम्हारी भलाई के लिये करेंगे और सोचेंगे, हम जो क़ानून गढ़ दें, वही तुम्हारे लिये व्यवस्था है; तुम हमारे वशंवद हो, इसलिये हम जो कहें, वह तुम्हें करना ही पड़ेगा; हमारा खान, हमारा पान, हमारी रहन, हमारी सहन सबमें हमारे समान बनो; देखो, सम्हले रहो, कहीं किसी बात में अपनापन न आने पावे; तुम्हें जब हम किसी बात में अपनापन ज़ाहिर करते देखते हैं, तो

हमारा जी कुढ़ जाता है, जो कुछ तुम्हारी भलाई भी कभी किसी तरह हो सकती, उसे भी हम रोक देते हैं; हम नहीं चाहते कि ऐसी कोई बात का अंकुर भी रह जाय, जिसमें तुम ज़ोर पकड़ हमारी बराबरी करने लगो, इत्यादि भाव हमारे मन में उस समय उठने लगते हैं, जब उस छिपी दैवी शक्ति की प्रेरणा से हम कृतकार्य और सफल-मनोरथ हो जाते हैं।

वही यदि अपनी कर्तव्यता में हम कृतकार्य न हुए और जो अभिनय वह हमसे करा रहा है, वह पूरा न उतरा, तो हम उदास, विषण्णवदन, अत्यंत दुःखी हो जाते हैं, उस समय ज़िंदगी हमें फीकी मालूम पड़ती है। बल्कि महाशोक-ग्रस्त हो ऐसे समय हम लोग जीवन से भी हाथ धो बैठते हैं। इस तरह पर इस संसार-नाट्यशाला में उस महापुरुष के अनेक खेल हैं, जिन्हें वह क्रीड़ा-विलसित के समान सर्वथा स्वच्छंद हो जब जैसा चाहता है, वैसा अभिनय करता है।

८—पुरातन तथा आधुनिक सभ्यता

पुरानी सभ्यता का उद्देश्य "Simple living and high thinking" अर्थात् साधारण जीवन और उच्च विचार था। हमारे पुराने लोग शून्य एकांत स्थान में जन-समाज से बड़ी दूर किसी पर्वत-स्थली या पवित्र नदी के तट पर स्वच्छ जल-वायु में नीवार, साग-पात या कंद-मूल, फल आदि खाकर रहते थे। बेशक़ीमत दस्तरख़ान उनके लिये नहीं सजाया जाता था। पर विचार उनके ऐसे ऊँचे होते थे कि संसार की कोई ऐसी बात न बच रही, जिस पर उन्होंने ख़याल नहीं दौड़ाया और जिसको अपने मस्तिष्क में नहीं रख लिया। इस समय की सभ्यता का जो चलन है, उसके साथ उनकी सभ्यता का मुक़ाबला करने से वे लोग जंगली और असभ्य (Rude) कहे जा सकते हैं। तब के लोगों को शांति बहुत प्रिय थी। जो जितना ही मन को वश में कर दमनशील और शांत रहता था, वह उतना ही अधिक सभ्य समझा जाता था। इस समय शांतशील बोदा समझा जाता है। मन को वश में करना तो दूर रहा, बल्कि मन को चलाय-मान और इंद्रियों का अतिशय लालन करने की कितनी तदबीरें और सामग्रियाँ चल पड़ी हैं। फ्रांस में दिन में तीन बार लेडियों के फ़ैशन बदले जाते हैं। फ़ैशन जो इस समय अंतिम सीमा को पहुँच रहा है, यह सब सभ्यता ही का प्रसाद है। इसके सिवा लोभ, ईर्ष्या, ममता इत्यादि दोष जो इंद्रियों को दमन न करने से पैदा होते हैं, वे सब इस समय की शोभा और गुण हो रहे हैं। सारांश यह कि उस समय की सभ्यता का लक्ष्य केवल बाहरी उन्नति पर नहीं वरन्, भीतर की उन्नति पर था, जिसे आध्यात्मिक उन्नति कहते हैं। हमारी आध्या-

त्मिक उन्नति में बिना बाधा पड़े बाह्य भौतिक (Material) उन्नति उस समय लोगों को स्वीकृत थी। इस समय "मेटीरियल" (भौतिक) उन्नति पर ज़ोर दिया जाता है, जिसका परिणाम यह है कि हम आध्यात्मिक विषय में दिन-दिन गिरते जाते हैं।

हमारी आधुनिक सभ्यता बिलकुल रुपए पर निर्भर है। रुपया पास न हो, तो आप सकल-गुण-वरिष्ठ शिष्ट-समाज के शिरमौर होकर भी श्रद्धास्पद नहीं हो सकते। सर्वसाधारण को जब यह निश्चय हो गया कि केवल रुपया सब इज़्ज़त और प्रतिष्ठा का द्वार है, तब जैसे बने, वैसे रुपया इकट्ठा करना ही हमारा उद्देश्य हो गया और हमारी आध्यात्मिक शक्ति का ह्रास दिन-पर-दिन होने लगा। किंतु तब के लोगों में ऐसा न था। आभ्यंतरिक शक्तियों को विमल रख रुपए का लाभ होता हो, तो वह लाभ उन्हें ग्राह्य था। एक कारण इसका यह भी कहा जा सकता है कि तब देश सब ओर से रँजा-पुँजा था, धन की कमी न थी; अब इस समय मुल्क में ग़रीबी बढ़ जाने से लोगों को रुपया कमाने में यत्न (Struggle) विशेष करना पड़ता है। योरप और अमेरिका के आढ्यतम देशों में इस आधुनिक सभ्यता की पोल इसलिये नहीं खुलने पाती कि वहाँ कोशिश (Struggle) इतनी नहीं है। यहाँ सब भाँति अभाव और क्षीणता है, इससे इस वर्तमान सभ्यता की भरपूर पोल खुल रही है।

सभ्यता का देश के जल-वायु के साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध है। किसी देश में प्राकृतिक नियमानुसार जो बात या जो बर्ताव जल-वायु के अनुकूल पड़ता है, वही वहाँ की सभ्यता समझी जाती है। जैसे हमारा देश कृषि-प्रधान है, सो जो कुछ यहाँ की खेती के अनुकूल या पृथ्वी की उपज का बढ़ानेवाला है, उसकी वृद्धि या उसका पोषण इस देश की सभ्यता का एक अंग है। जैसे गोरक्षा या गो-

पालन यहाँ की सभ्यता का श्रेष्ठ अंग है। सामयिक सभ्यता में गोधन की क्षीणता महापातक-सा देश-भर को आक्रमण किए है। हमारे पूर्वज प्रकृति को छेड़ना नहीं पसंद करते थे, वरन् प्रकृति में विकृति-भाव बिना लाए सहज में जो काम हो जाता था, उसी पर चित्त देते थे। आधुनिक सभ्यता, जो विदेश से यहाँ आई है, हमारी किसी बात के अनुकूल नहीं है; किंतु इससे प्रतिदिन हमारी क्षीणता होती जाती है। भोग-विलास आधुनिक सभ्यता का प्रधान अंग है। दरिद्र का विलासी होना अपना नाश करना है। देखिए—

"उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दारिद्रति"

अर्थात्—अपने से अधिकवाले का अनुकरण करने से कौन नहीं दरिद्र हो जाता। तस्मात् अंत को यही सिद्ध होता है कि "साधारण जीवन और ऊँचा विचार" यही पुष्ट सभ्यता है। अस्तु—

जिन-दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीत बहार;
अब अलि रही गुलाब की, अपत कटीली डार।

६—जवानी की उमंगें

मनुष्य के जीवन में जवानी की उमर भी एक बड़ी बरकत है। फूल जब तक कली के रूप में रहता है, तब तक वह डाल और पत्तों की आड़ में मुँदा हुआ न-जाने किस कोने में पड़ा रहता है; पर खिलने के साथ ही अपनी सुवास, सौंदर्य और सोहावनेपन से सबों के नेत्र और मन-मधुप को अपनी ओर खींच लाता है, और किसी तरह छिपाए नहीं छिप सकता। कली होने पर वह किस उठान से उठा था, तथा क्या-क्या उसमें गुन-ऐगुन थे, यह सब खिलने के साथ ही एकबारगी खुल पड़ते हैं; आगे को अब उससे क्या-क्या उम्मेद है, सो भी उसका इस समय का विकाश प्रकट कर देता है। मनुष्यों में इसी बात को हम "उमंग" के नाम से पुकारते हैं, जो हम लोगों के भविष्य आशाबंध को मज़बूत या ढीला करती है। "आत्मानं नावमन्येत" मनु की इस आज्ञा के अनुसार उन्नतमना तथा ऊँची तबियतवालों में उमंग सदा ऊपर को उठने के लिये होती है; जघन्य, निकृष्ट, मलिनसंस्कार तथा मैली तबियत के लोगों में पहले तो उमंग उठती ही नहीं, और उठी भी, तो सदा नीचे गिरने की ओर होती है। नवयुवक में ऊँची उमंग देख आशा-लता लहलहाती हुई नित्य दृढ़ होती जाती है; उनमें उस उमंग का अभाव या उसे नीचे की ओर जाते हुए पाकर आशा-लता सूखकर मुरझाती हुई ढीली पड़ जाती है। हम उत्तम श्रेणी में दाखिल हों; इसके लिये यत्न करना किसी ख़ास एक आदमी के हिस्से में नहीं आ पड़ा, वरन् हरएक आदमी को इसकी कोशिश करना मनुष्य-जीवन की सफलता और मुख्य काम है। वह नौजवान, जो ऊपर को नहीं

देखता, निश्चय है, नीचे को ताकेगा ; उस तीर चलानेवाले का निशाना, जो अपनी बाण-विद्या से आकाश को वेध डालना चाहता है, कहाँ तक ऊँचे-से-ऊँचे पेड़ के ऊपर तक न जायगा। जिसके ऊँचे-से-ऊँचे ख़याल हैं या जिसका ऊँचे-से-ऊँचे बर्ताव का क्रम है, वह कहाँ तक अपने ख़याल और बर्ताव में उस आदमी से बेहतर न होगा, जिसमें उन बातों का अंकुर भी नहीं है। बोलचाल और काम में कपट या कुटिलाई का अभाव मनुष्य में चरित्र-पालन के लिये पीठ की रीढ़ के समान सहारा है, और सचाई पर दृढ़ता तो मानो चरित्र का मुख्य अंग है। इसलिये ऊँची उमंगवाले युवक जनों को चरित्र-पालन के इन दो प्रधान साधनों को दृढ़ता के साथ पकड़े रहना चाहिए। दूसरा बड़ा दोष नौजवानों में बनावट (Assumption) का है। जैसे नाज़ कीड़े न-जाने कहाँ से पैदा हो फूल के विकाश के पहले ही, जब वह कली रहती है, उसे नष्ट कर डालते हैं, वैसे ही इस बनावट का अंकुर नवयुवकों में तारुण्य के विकाश के पहले स्थान कर लेता है। हज़ारों-लाखों नौजवान इस तराश-ख़राश, बनावट-सजावट के पेच में पड़, दुर्व्यसनी हो बीस या पचीस वर्ष की उमर तक पहुँचने के पहले ही लोहे-ताँबे उतर चुकते हैं तथा जो समय उनके पूर्ण विकाश का है, उसमें जराजर्जरित हो जाते हैं। इसलिये नई उमंगवालों को इस बनावट कृमि से अपने को बचाने के लिये बड़ी चौकसी रखना उचित है। किसी बुद्धिमान् गंभीराशय का कथन है—

"Always endeavour to be really what you would wish to appear."

अर्थात् हमेशा इस बात की कोशिश करते रहो कि तुम अपने को लोगों में वैसा ही ज़ाहिर करो, जैसा तुम वास्तव में भीतर से हो। नौजवानों में नुमाइश का आला उमर का तक़ाज़ा और उनकी

नई-नई उमंगों का एक अंग समझा जाता है, पर उसका न आना बहुत बड़ा सौभाग्य समझना चाहिए। ज़ाहिरदारी या नुमाइश को दूर रखकर जो उमंगें उठती हैं, वे नौजवान के भविष्य जीवन में महोपकारी हो उसको महापुरुष (Greatman) बना देने में सहकारी होती हैं। इस प्रकार की उमंग से वह धीरे-धीरे चुपचाप अपने महत्त्व की आलीशान इमारत लगातार बनाता जाता है। कुँवार-कातिक में जो शरत्कालीन बादल उठते हैं, वे जितना गरजते हैं, उतना बरसते नहीं। पर बरसात में जो बादल आते हैं, वे इतना गरजते नहीं, पर बरसके वसुधा को सब ओर से जलमग्न कर देते हैं। वैसा ही ओछे-छिछोरे भड़क बहुत दिखलाते हैं, पर करतूत बहुत कम उनमें देखी जाती है। किंतु जो गुरुता-संपन्न होते हैं, वे मुख से कुछ नहीं कहते; बल्कि करके दिखला देते हैं—

"फलानुमेया: प्रारंभा: संस्कारा: प्राक्तना इव।"

"करतूती कहि देत आप नहिं कहिए साँई।"

"गर्जति शरदि न वर्षति,
वर्षति वर्षासु नि:स्वनो मेघ:;
नीचो वदति न कुरुते,
न वदति सुजन:करोत्यवश्यम्।"

ये सब वाक्य ऐसों ही के लिये कहे गए हैं।

नौजवानी की उठती उमर ऐसे अल्हड़पन की होती है कि इस उमर में दूरंदेशी (precaution) या पूर्वविधान बिलकुल नहीं रहता, बल्कि बुरी आदतें एक-एक करके पड़ती जाती हैं। जिस समय उन ख़राब आदतों का आना आरंभ होता है, कुछ नहीं मालूम होता; जैसा पहाड़ों पर जब बर्फ़ गिरने लगती है, तब कभी किसी के ध्यान में भी नहीं आता, पीछे थोड़ा-थोड़ा करके जमा होते-होते वही हिम-संहति (Avalanche) हो जाती है। तब सूरज की तेज़ गरमी

भी उसे नहीं टिवला सकती। इसी तरह अल्हड़पन की उमंग में ख़राब आदतें जब आना शुरू होती हैं, तब उस पर बहुत ध्यान नहीं जाता, पीछे वही इतनी दृढ़ और बद्धमूल हो जाती हैं कि आमरणांत जन्म-भर के लिये दामनगीर हो जाती हैं; हज़ार-हज़ार उपाय उनके हटाने के किए जाते हैं, कोई कारगर नहीं होते। इससे जब तक गदह-पचीसी का यह नाज़ुक वक़्त गुज़र न जाय, तब तक बड़ी साव-धानी रखनी चाहिए। इस नाज़ुक वक़्त में यदि भलाई का बीज न बोया जाय, तो बुराई आप-से-आप आ जाती है; जैसे खेत, जिसकी धरती बहुत फलवंत और उर्वरा है, जोता-बोया न जाय, तो लंबी-लंबी घास उसमें ख़ुद-बख़ुद उपज जाती है—

"Vice quickly springs unless we goodness sow;
Rankest weeds in richest garden grow".

बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि आदत या बान पड़ते-पड़ते पीछे दृढ़ और बद्धमूल हो स्वभाव हो जाती है। योरप के एक दार्शनिक का मत है कि "मनुष्य पाप या पुण्य आदि जो कुछ करता है, वह सब उसकी वैसी बान पड़ जाने का नतीजा है।" ख़ुलासा यह कि स्वभाव से बहुत कम काम होते हैं, जो कुछ किया जाता है, वह सब आदत है। तो आदमी क्या है, मानो जुदी-जुदी तरह की आदतों का एक गट्ठर है। इसी से यह कहावत चल पड़ी है "Habit is a second nature" अर्थात् आदत दूसरे तरह का एक स्वभाव है। इस कहावत का सबूत यह है कि यदि धैर्य, गांभीर्य, विचारशीलता, संयम आपकी आदतों में दाख़िल हो जायँ, तो छिछोरापन, टुच्चापन, साहस आदि से आपको चिढ़ हो जायगी। ऐसा ही जो ओछी-छिछोरी आदत का है, उसको संयमी, विचारवान्, गंभीराशय काहे को भले लगेंगे। एवं चुग़ली-चबाव, हेर-फेर, कुटिलाई इत्यादि जिसकी आदत में दाख़िल हो जाते हैं, उसको चैन नहीं पड़ती और अन्न नहीं पचता, जब तक वह

किसी का कुछ चबाव या किसी की चुग़ली अथवा हेर-फेर की कोई एक बात न कर ले। तो नवयुवक को सावधान रहना चाहिए कि ये बुरी आदतें उसमें क़दम न जमाने पावें, नहीं तो वे जन्म-भर छुटाए न छूटेंगी।

ये सब गुण-अवगुण जिन्हें हमने ऊपर कहे हैं, प्रतिक्षण बड़े ज़ोर के साथ बढ़ते हुए आदमी के चरित्र को या तो शोभित करते हैं या उसे दग़ीला कर डालते हैं, जिससे वह अपने में चरित्र-पालन की शेष बातों को भी नहीं बचा सकता। जो सफ़ेद कपड़ा पहने हुए है, वह कपड़ों के मैले होने के भय से जहाँ-तहाँ बैठते सकुचता है; जो मैला कपड़ा पहने हुए है, उसे क्या, वह जहाँ चाहे, वहाँ बैठ सकता है—

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते ;
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति।

जैसे उजाला छोटे-से छिद्र के द्वारा भीतर प्रवेश कर अंधकार को दूर हटा देता है, वैसे ही आत्मगौरव का अणु-मात्र भी ख़याल मनुष्यों को बुराई या बुरी आदतों की ओर से अलग करता है। जिनके आँख का पानी ढरक गया है और शरम और हिजाब को खो बैठे हैं, उन्हें नीचे-से-नीचा काम करने में संकोच नहीं रहता। नौजवानों में इसके नमूने बहुत-से पाए जाते हैं। नई उमंग में बहुधा नौजवान आत्मगौरव का ध्यान न रख बड़ों की बड़ाई रखने में चूक जाते हैं, जिससे वे संसार में बदनाम हो अशालीन और धृष्ट की उपाधि पाते हैं। इसलिये बड़ों की बड़ाई रखना मानो अपना बड़प्पन बढ़ाना है।

१०—पौगंड या कैशोर

बालक की पाँच से चौदह या पंद्रह तक जो अवस्था है, उसे पौगंड या कैशोर अवस्था कहते हैं। तारुण्य के विकाश के पहले जो समय मनुष्य का होता है, वह कैसे सुख का रहता है। उस समय बालक का चित्त तुर्त के मथे मक्खन के समान कोमल, निर्मल और सर्वथा विकारशून्य रहता है। उस समय जो-जो बातें उसके नेत्रगोचर होती हैं, उन्हें उसका निष्कपट, सरल चित्त, बिना शंका-समाधान के ऋजु-भाव से ग्रहण कर लेता है। तरुणाई का प्रवेश होते ही बाल्यकाल के वे सब सुख सपने के ख़याल-से हो जाते हैं। सरल भाव, अकुटिल निष्कपट प्रीति, उदार व्यवहार और पहले का-सा वह अल्हड़पन अब कहीं नाम को भी न रहा। स्कूल या पाठशाला में नित्य का जाना, मोटी-मोटी किताबों का बोझ लादने का अभ्यास, सहपाठियों के साथ एकांत गोष्ठी, अध्यापक या मास्टर साहब की उत्साह बढ़ानेवाली उपदेश-सनी बानी, मेला, तमाशा या तरह-तरह के खेल-कूद में नई-नई उमंग का अब कहीं संपर्क भी न रहा। हमारे साथ के पढ़नेवाले सब मित्र अब हमें अवश्य भूल गए होंगे; जिन्हें कुछ याद भी होगी, तो वही स्नेह अब काहे को होगा, जैसा उस समय था, जब हम उनके साथ एक ही बेंच पर सटकर बैठते थे और मास्टर साहब को अनेक तरह का भुलावा और झुल दे काना-फुस्की में भाँति-भाँति की गप्पें हाँक-हाँक प्रसन्न होते थे। मास्टर साहब जैसा देखने में कड़े और सख़्तमिज़ाज थे, यह हम सब ख़ूब जानते थे। न केवल हमीं, वरन् हमारे समान नटखट जितने लड़के हैं, सभी जानते होंगे। हम लोगों में से जो कोई कभी उनकी इच्छा के प्रतिकूल कोई काम कर गुज़रता था,

तो वह सवेरे की जून स्कूल खुलते ही साक्षात् रुद्र-मूर्ति अध्यापक महाशय की भौं चढ़ी तिरछी चितवन देखते ही चट भाँप लेता था कि देखें, आज हम पर क्या भद्रा उतरे, ईश्वर ही कुशल करे। सदा वे कड़ाई करते रहे हों, सो भी नहीं, कभी-कभी हँसाते इतना थे और ऐसी बात बोलते थे कि हँसते-हँसते पेट फूलने लगता था। जब वे क्रोध में भर शेर-सा तड़प गरजने लगते थे, तब क्लास-भर में सन्नाटा छा जाता था और हम सब लोग मौन हो बकरी-सा दबक बैठ रहते थे। उनकी ये सब बातें ऊपर से केवल रोब जमाने के लिये थीं। भीतर से वे ऐसे कृपालु, कोमल और सरस हृदय थे, मानो दाख-रस हों।

उपरि करवालधाराकाराः क्रूराः भुजंगमपुंगवाः ;
अंतःसाक्षाद्द्राक्षा दीक्षागुरवो जयन्ति केपि जनाः।"

जो घुड़कते-झिड़कते थे, सो सब इसीलिये कि हम अपना पाठ याद करने में सुस्त और आलसी न हो जायँ। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपने काव्य Deserted Village में कैसा अच्छा चित्र इसी का उतारा है—

"A man severe he was and stern to view,
I knew him well and all the truant knew ;
Well had the boding tremblers learn'd to trace
The day's disasters in his morning face ;
Full well they laugh'd with counterficted glee
At his jokes for many a joke had he ;
Full well the busy whisper circling round,
Conveyed the dismal tiding when he frown'd ;
Yet he was kind or severe in aught,
The love he bore to learning was in fault"

अब वह कोई बात न रही। अब कैसे-कैसे कुटिल, नीरस कपट-नाटक की प्रस्तावना के सदृश मानसिक भाव हमारे चित्त में उठा करते हैं। बहुत चाहते हैं कि वे सुख-चैन के दिन अब फिर आवें, पर वे अब क्यों नहीं आते ? जी चाहता है, मोहन, बच्चन, छुन्नू से फिर वैसा ही गप्प हाँकें; तब कैसा क़हक़हे मार-मार हँसा करते थे और विना कारण हँसी आती थी; अध्यापक महाशय कितना खिजलाते-झुँझलाते थे, पर हम एक नहीं मानते थे। अब वैसी हँसी एक बार भी आवे, तो नोन, तेल, लकड़ी की चिंता के कारण दुःख-दुर्भर हृदय के दुःख का बोझ कितना हलका हो जाय; पर वैसी हँसी अब काहे को आवेगी ! अब पहले के माफ़िक़ हम उन छोटे-छोटे बालकों में बेधड़क क्यों नहीं जा मिलते ? अब हमारा उनके साथ मिलना सींग कटा बछड़ा बनना क्यों जान पड़ता है ? पहले के समान सरल अकुटिल भाव से वे अब हमसे क्यों मिलेंगे ?

कवियों ने युवावस्था को "सब सुखों की खान" लिखा है; किंतु वह सब उन धूर्तों की जल्पना-मात्र है—"कवयः किन्न जल्पन्ति।" इस समय तो हमारा पूर्ण यौवन है, फिर हमें सुख क्यों नहीं मिलता ? माना कि जवानी का आलम बड़ा मज़ेदार और दिलचस्प होता है। इसमें हमें दुनिया की सब तरह की लज़्ज़तों का मज़ा मिलता है। आशिक़ी का मज़ा उठाते हैं ; माशूक़ी की लज़्ज़त चखते हैं ; नवयौवन के उमंग में बड़े-बड़े काम सहज में कर डालते हैं ; नई जवानी, नया जोश, नई उमर, नवीन उत्साह, नूतन अभिलाष, जितनी बात सब नई; पुरानी कोई नहीं। किंतु विचार-दृष्टि से देखो, तो सिवा हिर्स-हवा के लड़कपन का वह वास्तविक सच्चा सुख कहीं नाम को नहीं। धिक् ! यह वह समय है, जिसमें जो कुछ करते हैं, किसी से तृप्ति और संतोष नहीं होता। जितना भोग-विलास करते जाते हैं, जी नहीं ऊबता, वरन् चौगुनी लालसा बढ़ती है—

"हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ।"

जैसे आग में घी छोड़ने से आग चौगुनी धधकती है । अनगिनती रुपया पैदा किया, बड़ी-बड़ी विद्याएँ सीखीं, बहुत तरह के गुण उपार्जन किए, संसार में सब ओर अपना यश फैलाया; पर तृप्ति न हुई; हवस नित-नित बढ़ती ही गई; सदा यही इच्छा रहती है, थोड़ा और होता, तो अच्छा था । आज एक काम सिद्ध हो जाने पर मन आनंद से पूर्ण हो जाता है; उस समय यही मालूम होता है, मानो स्वर्ग-सुख भी तुच्छ और फीका है । वही किसी काम के बिगड़ जाने पर ऐसी उदासी छा जाती है कि समस्त संसार असार जँचता है । सुतरां अंत को यही सिद्धांत ठहरता है कि यौवन-सुख केवल अतृप्त लालसाओं के सिवा और कुछ नहीं है । सच्चे सुख का समय केवल बाल्य-अवस्था है ।

१२—शब्द की आकर्षण-शक्ति

"शब्द की आकर्षण-शक्ति" न्यूटन की आकर्षण-शक्ति से लव-मात्र भी कम नहीं कही जा सकती। बल्कि शब्द की इस शक्ति को न्यूटन की आकर्षण-शक्ति से विशेष कहना चाहिए। इसलिये कि जिस आकर्षण-शक्ति को न्यूटन ने प्रकट किया है, वह केवल प्रत्यक्ष में काम दे सकती है। सूर्य पृथ्वी को अपनी ओर खींचता है, पृथ्वी चंद्रमंडल को, यों ही जितने बड़े पदार्थ हैं, सब छोटे को आकर्षण कर रहे हैं। किंतु एक पदार्थ दूसरे को तभी आकर्षण करते हैं, जब वे दोनों एक दूसरे के मुक़ाबले में हों। पर शब्द की आकर्षण-शक्ति में यह आवश्यक नहीं है। यह बात ज़रूरी नहीं है कि शब्द की आकर्षण-शक्ति तभी ठहर सकती हो, जब नेत्र भी वहाँ योग देता हो। इन शब्दों का जितना ही अधिक समूह बढ़ता जायगा, उतनी ही उनमें आकर्षण-शक्ति भी अधिक होती जायगी। प्रत्येक जाति के धर्म-ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। वेदादि धर्म-ग्रंथ जो इतने माननीय हैं, सो इसलिये कि उनमें धर्म का उपदेश ऐसे शब्द-समूहों में है, जो चित्त को अपनी ओर खींच लेते हैं और ऐसा चित्त में गड़के बैठ जाते हैं कि हटाए नहीं हटते। न्यूटन ने जिस आकर्षण-शक्ति को प्रकट किया, वह उनके पहले किसी के दिलों को आकर्षित न कर सकती थी। वृक्ष से फल का टूटकर नीचे गिरना साधारण-सी बात है, पर किसी के मन में इसका कोई असर नहीं होता। न्यूटन के चित्त में अकस्मात् आया कि "यह फल ऊपर न जा नीचे को क्यों गिरा?" अवश्य इसमें कोई बात है। देर तक सोचने के उपरांत उसने निश्चय किया कि उसका कारण यही है कि "बड़ी चीज़ छोटी को खींचती है।" पर शब्द की आकर्षण-

शक्ति में इतना असर है कि वह मनुष्य की कौन कहे, वन के मृगों को भी मुग्ध कर देती है। कोयल का पंचम स्वर में अलापना सबों-को क्यों भाता है, इसीलिये कि मीठी आवाज़ (Meflodiousv oice) सबोंको सुखद है। बीन इत्यादि बाजे भी लोगों को क्यों रुचते हैं, इसीलिये कि वे कान को सुखद और मन को आकर्षण करनेवाले हैं।

केवल शब्द की मधुर ध्वनि में जब इतना प्रलोभन है, तब यदि उन शब्दों में अर्थचातुरी भी भरी हो, तो वह कितना मन को खींचने-वाला न होगा! अलंकारों में अनुप्रास (Alliteration) कितना कर्ण-रसायन है, पर उसमें अर्थचातुरी न रहने से वह आलंकारिकों में इतनी प्रतिष्ठा नहीं पाता। यदि किसी काव्य में पद-लालित्य के साथ-साथ अर्थचातुरी भी हो, तो उसके समान बहुत कम काव्य निकलेंगे। जैसा दामोदर गुप्त का यह श्लोक है—

"अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ;
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला।"

अर्थात्—कोई विरहिणी नायिका अपने प्रियतम के वियोग में कामाग्नि से व्याकुल हो अपनी सहेली से कह रही है—"कामज्वर के दूर करने को जो तुमने यह घनसार (चंदन) हमारे शरीर में पोत रक्खा है, उसे अपसारय (दूर करो), इसलिये कि चंदन से तो और भी कामाग्नि धधक उठेगी। मोतियों का हार उतार लो। कमलों से क्या होगा, वह भी ठंडक न पहुँचा सकेंगे। अलमलमालि मृणालैः (ठंडक के लिये जो मृणाल मेरे ऊपर धरा है उसे हटाओ)—इस भाँति वह बाला दिन-रात कहर-कहर तुम्हारे वियोग में रोया करती है।

तुलसी और बिहारी के काव्यों में ऐसा बहुत ठौर आ गया है, जहाँ अनुप्रास की मिठास और अर्थचातुरी दोनों एकसाथ आई हैं। कुछ उदाहरण उसके यहाँ पर हम देते हैं—

"टटकी धोई धोवती चटकीली मुख जोति ;
फिरत रसोई के घरन जगर-मगर धुति होति ।
मानहु मुख-दिखरावनी दुलहिनि करि अनुराग ;
सासु सदन मन ललन हू सौतिन दियो सुहाग ।
भूषन-भार सम्हारिहैं किमि ये तन सुकुमार ;
सूधे पाय न धरि परत महि सोभा के भार ।
लगालगी लोचन करें, नाहक मन बँधि जाय ;
देह दुलहिया की बढ़े ज्यों-ज्यों जोबन जोति ;
त्यों-त्यों लखि सौतें सबै बदन मलिन दुति होति ।

तुलसी का जैसा—

"तुलसी सराहत सकल सादर सींव सहज सनेह की ।"

"धिग् मोहिं भयउँ बेनु बन आगी ।
दुसह दाह दुख दूषन भागी ॥
सुनी बहोरि मातु मृदुबानी ।
सील सनेह सरल रससानी ॥

अँगरेज़ी में भी कहीं-कहीं पर ऐसा है। जैसा पोप की इस पंक्ति में—

"The sound should seem an echo to the sense."

अर्थात्—शब्द ऐसे होने चाहिए, जिनमें कि अर्थों की गूँज-सी निकले। जैसा कालिदास का—

"कन्याललामकमनीयमजस्य लिप्सोः ।"

भवभूति का जैसा—

"कूजत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटा" ।

इत्यादि वैदर्भी रीति और प्रसाद-गुण इस तरह के काव्यों के प्राण हैं। पोप की एक और भी बानगी है—

"How high His Highness holds his haughty head."

पर इसमें अर्थचातुरी का अभाव है। शेक्सपियर के—
"His heavy-shotted hammer shroud"
इस पद में अनुप्रास अर्थ-चातुरीसहित है।

तात्पर्य यह कि जो अनुप्रास विना प्रयास आ जाय तथा जिसके द्वारा अर्थ में भी अधिक सौंदर्य बढ़ जाय, तो वह सर्वथा ग्राह्य है। पर जिस अनुप्रास के पीछे अर्थचातुरी की हत्या करना पड़े, तो वह अनुप्रास किस काम का! कालिदास के—

"इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्।"

इस श्लोक में अनुप्रास विना बनावट के आ गया है। इससे यह बहुत उत्तम अनुप्रास का उदाहरण है। जयदेव कोकिलकंठ इसीलिये कहलाए कि उनके पदों में लालित्य अर्थचातुरी से कहीं पर ख़ाली नहीं है। जैसा—

"ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।"

प्रसाद—गुण-विशिष्ट अनुप्रास, जैसा—

"परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवतापभीतोहम्"

वैदर्भी रीति का अनुप्रास, जैसा—

"कुतोऽवीचिर्वीचिस्तव यदि गता लोचनपथम्
त्वमापीता पीतांबरपुरनिवासं वितरसि।
त्वदुत्संगे गंगे! पतति यदि कायस्तनुभृताम्
तदा मातः! शातक्रतवपदलाभोप्यतिलघुः॥"

अर्थात्—हे गंगे! तुम्हारी वीचि (लहर) यदि नेत्रपथ में आ जाय, तो अवीचि (नरक या पाप) कहाँ। तुम जलरूप में जो पी ली जाओ, तो पीतांबरपुर (वैकुंठ-धाम) का वास दे देती हो। तुम्हारी गोद में जो देहधारी-मात्र का शरीर आ गिरे, तो शातक्रतव (इंद्र के) पद का लाभ भी बहुत थोड़ा है।

जगन्नाथ पंडितराज का जैसा—

"यवनी नवनीतकोमलांगी शयनीये यदि नीयते कथंचित् ।

अवनीतलमेव साधु मन्ये न वनी माघवनी विनोदहेतुः ॥"

इत्यादि शब्द की आकर्षण-शक्ति के अनेक उदाहरण संस्कृत और भाषा दोनों में पाए जाते हैं। अधिक पल्लवित न कर केवल दिग्दर्शन-मात्र यहाँ पर कराया गया है।

१२—माता का स्नेह

वात्सल्य-रस की शुद्ध मूर्ति माता के सहज स्नेह की तुलना इस जगत् में, जहाँ केवल अपना स्वार्थ ही प्रधान है, कहीं ढूँढ़ने से भी न पाइएगा।

सच है—

"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"

मातृस्थानापन्न दादी, दादा, चाचा, ताऊ आदि का स्नेह बहुधा औचित्य-विचार और मर्यादा-परिपालन के ध्यान से देखा जाता है। किंतु माता तथा पिता का स्नेह पुत्र में निरे वात्सल्य-भाव के मूल पर है। अब इन दोनों में भी विशेष आदरणीय, सच्चा और निःस्वार्थ प्रेम किसका है? इसकी समालोचना आज हमारे इस लेख का मुख्य उद्देश्य है। लोग कहते हैं, लाड़-प्यार से लड़के बिगड़ते हैं; पर सूक्ष्म विचार से देखिए, तो बालकों में हरएक अच्छी बातों का अंकुर गुप्त रीति पर प्यार ही से जमता है। विलायत के एक चतुर चितेरे ने लिखा है कि "मेरी माँ के एक बार चूम लेने ने मुझे चित्रकारी में प्रवीण कर दिया।" गुरु और उस्ताद जितना हमें पाठशालों में भय और ताड़ना दिखलाकर वर्षों में सिखला सकते हैं, उतना अपने घर में हम सुत-वत्सला माँ के अकृत्रिम सहज स्नेह से एक दिन में सीख लेते हैं। माँ के स्वाभाविक, सच्चे और बेबनावटी प्रेम का प्रमाण इससे बढ़कर और क्या मिल सकता है कि लड़का कितना ही रोता हो या बिरझाया हुआ हो, माँ की गोद में जाते ही चुप हो जाता है। इसी तरह जहाँ थोड़ी देर तक लड़के ने दूध न पिया, तो माँ के स्तन भी दूध से भर आते हैं, दूध टपकने लगता है और वह विकल हो जाती है। विंदुपात

के उपरांत पिता अलग हो जाता है। दश मास तक गर्भ में धारण का क्लेश, जनने के समय की पीड़ा, उसके पालन-पोषण की चिंता और फ़िकर, उसे नीरोग और प्रसन्न देख चित्त का हुलास, रोगी तथा अनमन देख अत्यंत विकल होना इत्यादि सब माता ही में पाया जाता है। माता और पिता के स्नेह का तारतम्य इससे अधिक स्पष्ट और क्या हो सकता है कि लड़का कुपूत और निकम्मा निकल जाय, तो बाप कभी उसका साथ नहीं देता, बल्कि घर से निकाल अलग कर देता है; पर माँ बहुधा सात भाँवरवाले पति को भी त्याग निकम्मे पुत्र का साथ देती है। बंगालियों में तथा हमारे देश के कनौजियों में, जिनके बीच बहुविवाह प्रचलित है अर्थात् पुरुष बहुत-सी स्त्रियों को ब्याह लेने की बुराई को बुराई नहीं समझते, इसके बहुत-से उदाहरण पाए जाते हैं। दो-चार नहीं, बरन् हज़ार-पाँच सौ ऐसी भी देखी गई हैं, जिन्होंने बालक की अत्यंत कोमल अवस्था ही में पिता के न रहने पर चक्कियाँ पीस-पीस अपने पुत्र को पाला और उसे पढ़ा-लिखाकर सब भाँति समर्थ और योग्य कर दिया। पुत्र भी ऐसों के ऐसे-ऐसे सुयोग्य हुए हैं कि जैसे सब भाँति भरे-पुरे घरानों में भी न निकलेंगे। जब महाकवि श्रीहर्ष केवल पाँच वर्ष के थे, तो उनके पिता ने वाद में पराजित हो लाज से तन त्याग दिया। तब उनकी माँ ने चिंतामणि-मंत्र का उनसे जप करवाकर तथा सरस्वती देवी का कृपापात्र कर अत्यंत उद्भट पंडित उन्हें बना दिया और पीछे से अपने पति के परास्त करनेवाले पंडितों को इनके द्वारा वाद में हराकर पूरा बदला चुका लिया।

पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ मिलती हैं, जिनमें माता का वात्सल्य टपक रहा है। माँ का एक बार का प्रोत्साहन पुत्र के लिये जैसा उपकारी और उसके चित्त में असर पैदा करनेवाला होता है, वैसा पिता की सौ बार की नसीहत और ताड़ना भी नहीं

होती। सौतेली माँ 'सुरुचि' के वज्रपात सदृश वाक्प्रहार से ताड़ित और पिता की अवज्ञा और निरादर से अत्यंत संतापित ध्रुव को, जब वह केवल पाँच ही वर्ष के बालक थे, सुनीति देवी का एक बार का प्रोत्साहन ध्रुव-पद की प्राप्ति का हेतु हुआ, जिसके समान उच्च और स्थिर पद आज तक किसी को मिला ही नहीं। पिता का स्नेह बदला चुकाने की इच्छा से होता है। वह पुत्र को इसीलिये पालता-पोषता और पढ़ाता-लिखाता है कि बुढ़ापे में वह हमारे काम आवेगा तथा जब हम सब भाँति अपाहिज और अपंग हो जायँगे, तो हमारी सेवा करेगा और हमारे अन्न-वस्त्र की फ़िकर रक्खेगा। पर माँ का उदार और अकृत्रिम प्रेम इन सब बातों की कभी नहीं इच्छा रखता। माँ अपने प्रिय संतान के लिये कितना कष्ट सहती है, जिसे याद कर चित्त में वात्सल्य-भाव का उद्गार हो आता है। माँ में पिता के समान प्रत्युपकार की वासना भी नहीं है, दया मानो देह धरे सामने आकर खड़ी हो जाती है। टूटी फूस की मढ़ी में, जब कि मुसलधार अखंड पानी बरस रहा है और फूस का ठाठ सब ओर से ऐसा टपकता है कि कहीं बीता-भर जगह बची नहीं है और न ग़रीबी के कारण इतना कपड़ा-लत्ता पास है कि आप भी ओढ़े और प्रिय संतान को ढाँपकर वृष्टि के भयंकर उत्पात से बचावे, माता आधी धोती ओढ़े आधी से अपने दुधमुहे बालक को ढाँपे उसको छाती से लगाए हुए है। अपने प्राण और देह की उसे तनिक भी चिंता नहीं है, किंतु वात और वृष्टि से पुत्र को कोई अनिष्ट न हो, इसलिये वह अत्यंत व्यग्र हो रही है। पुत्र की रोगी और अस्वस्थ दशा में पलँग के पास बैठ उदासीन मन मारे वह उसका मुँह ताक रही है। रात की नींद और दिन का भोजन उसे मुहाल हो गया है। भाँति-भाँति की मान-मनौती तथा उतारा और सदक़े में वह लगी है। जो जैसा कहता है, वह सब कुछ करती

जाती है। अपनी जान तक क्यों न चली जाय, पर पुत्र को स्वस्थता हो, इसी की फ़िकर में वह है।

पिता को अपने शरीर पर इतना कष्ट उठाना कभी न भावेगा। यह माता ही है, जो पुत्र के स्वाभाविक स्नेह के परवश हो इतने-इतने दुःख सहती है। बुद्धिमानों ने इन्हीं सब बातों को सोच-विचार कर लिख दिया कि—"पिता से माँ का गौरव सौगुना अधिक है।"

"पितुः शतगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।"

माँ का केवल गौरव मान बैठ रहना कैसा, हम तो कहेंगे कि पुत्र जन्मपर्यंत तन, मन, धन से माँ की सेवा करे तब भी वह उसके पूर्व-उपकार का ऋणी बना ही रहेगा। कवि-संप्रदायानुगत प्रसाद और माधुर्य-गुण से भरा तथा वात्सल्य-रस में पगा हुआ "माँ" इस एकाक्षरी महामंत्र की समता शब्दों की कल्पना करनेवाले आदि के उस महापुरुष ने, जिसने सृष्टि के प्रारंभ ही में हमें यह बतलाया कि अमुक शब्द से अमुक अर्थ का बोध होता है, जान-बूझ कर किसी दूसरे शब्द में नहीं रक्खा। "प्रसवितृ", "मातृ", "जननि", "अंब" आदि जितने शब्द इस अर्थ के बोधक हैं, उनमें सरस, दंत्य और तालव्य अक्षरों के सिवा टकार, डकार, षकार आदि कड़े और कर्ण-कटु वर्ण किसी में न पाइएगा। इससे निश्चय होता है कि शब्द की कल्पना करनेवाले उन पहले के वैयाकरणों को प्यारी माँ का कहाँ तक गौरव था। भाई-बहन में परस्पर स्नेह का बंधन और बहुधा समान शील का होना माँ के उसी दूध का परिणाम है। एक ही माँ का दूध वे पीते हैं, इसीलिये वे इतना प्रेमबद्ध रहते हैं। तो सिद्ध हुआ, जननी केवल जन्म-दात्री ही नहीं है, वरन् पवित्र और सरस स्नेह की प्रसवित्री भी वही है। रास-लीला में गोपिकाओं ने भगवान् से तीन प्रश्न किए हैं, जिनमें उन्होंने तीन तरह का मार्ग प्रेम का दिखलाया है। एक तो वे लोग हैं, जो

प्रेम करने पर प्रेम करते हैं। दूसरे वे हैं, जो तुम चाहे प्रेम करो या न करो, तुम से प्रेम करते हैं। तीसरे वे, जो ऐसे कट्टर हैं कि उनसे कितना ही प्रेम करो, तो भी नहीं पसीजते। इसके उत्तर में भगवान् ने कहा है—जो परस्पर प्रेम करते हैं, वह तो एक प्रकार का बदला है; स्वच्छ स्नेह उसे न कहेंगे; काम पड़ने पर मित्र शत्रु बना ही करते हैं, उसमें सौहार्द धर्ममूलक नहीं है; किंतु दोनों परस्पर स्वार्थी हैं, और जब स्वार्थ हुआ, तो कुछ-न-कुछ कपट उसमें अवश्य ही रहेगा, कपट का मन में लेश भी आया कि स्वच्छ स्नेह की जड़ कट गई। जिसमें केवल धर्म हो, जो स्वच्छ स्नेह को दर्पण के समान प्रकाश कर देनेवाला हो तथा जिसमें बदला पाने की कहीं गंध भी न हो, वह स्नेह वही है, जो दया की मानो साक्षात् स्वरूप माँ पुत्र में रखती है। इस मातृक स्नेहरूपी अनमोल मोती की तारीफ़ में पेज-का-पेज रँगते जाँय, तो भी हम ओरछोर तक नहीं पहुँच सकते।

१३—मुग्ध-माधुरी

मुग्धता की छवि ही कुछ निराली है। मुग्धता में चेहरे के भोलेपन के साथ-ही-साथ एक अद्भुत पवित्र, स्थिर और सत् मनोवृत्ति प्रतिबिंबित होती है। जिस सौंदर्य में भोलेपन की झलक नहीं, वह बनावटी सौंदर्य है। बनावटी सौंदर्य में सागर के समान प्रसन्न, गंभीर और स्थिर भाव कभी ढूँढ़ने से भी न मिलेगा। भोलेपन से ख़ाली तथा दग़ीली ख़ूबसूरती पहले तो कोई ख़ूबसूरती ही नहीं है, और कदाचित् हो भी, तो कुटिलाई और बाँकापन लिए हाव-भाव दूषित, मलिन और अपवित्र मन की खोटाई के साथ ऊपर से रँगी-चँगी, सुंदरता छूत के समान देखनेवालों के मन में अवश्य अपवित्र और दूषित भाव पैदा करेगी। स्वाभाविक सरल सौंदर्य वही है, जिसमें भोलापन मिला हो और जो देखनेवालों के चित्त में अपवित्र और दूषित भाव पैदा करने के बदले प्रकृति के अद्भुत लोकोत्तर कामों का स्मरण दिलाता हुआ भक्ति-प्रवण मन-मधुप को सर्वशक्तिमान के चरणकमलों के ध्यान में रुजू करता है। बहुतेरे ऐसे दृष्टांत मिलते हैं कि हिंसक ठग लोग भी ऐसों के सौंदर्य पर मोहित तथा उनकी मुग्ध-माधुरी के वशीभूत हो हिंसा के काम से निरस्त हो बैठे। हमारे "नूतन ब्रह्मचारी"* का क़िस्सा इसका एक उदाहरण है।

जैसा ब्राह्मण और ऋषियों के बालकों में पुश्त-दर-पुश्त की तपस्या से उत्पन्न ब्रह्मवर्चस् तथा क्षात्रकुल-प्रसूत राजर्षियों में क्षात्रतेज की

---

* भट्टजी की यह "नूतन ब्रह्मचारी" नाम की पुस्तक भी हमारे यहाँ से मिलती है, जो बहुत ही शिक्षाप्रद व पढ़ने योग्य है।—प्रकाशक

दमक निराली होती है और छिपाए नहीं छिपती उसी तरह रूप के संसार में मुग्ध-माधुरी भी छिपाए नहीं छिपती। नागरिक स्त्रियों की अपेक्षा व्रजवनिता गँवारिन गोपियों में कौन-सी ऐसी बात थी कि हमारे कविगण रूप-वर्णन में अपनी कविता का सर्वस्व उनकी रूप-माधुरी को सौंप बैठे। कोकिलकंठ जयदेव, कवि कर्णपूर तथा और-और लीलाशुक प्रभृति कवियों की कोमल कविता का उद्गार इन्हीं व्रजवनिताओं ही के रूप-वर्णन में क्यों हुआ? इसका कारण यही मन में आता है कि इन लोगों को नगरवधू तथा प्रसिद्ध राज-कन्याओं के रूप में वह बात न मिली। वह केवल बेबनावटी भोलापन था, जिससे कृष्ण-ऐसे रसिकशिरोमणि इन पर मोहित हो इनके पीछे-पीछे डोलते फिरे। हज़ार में नौ सौ निन्नानवे लोग तेल और पानी मिली हुई हल्दी की वार्निश से चमकाए गए, वार-वनिताओं के जिस सौंदर्य तथा रूप को देखकर कीट-पतंग की गति भुगतते हैं, वह सौंदर्य तथा रूप के जौहर के सच्चे जौहरियों की दृष्टि में अत्यंत तुच्छ और हेय है। वरन् संयोगवश कभी उनकी नज़र भी ऐसे सुंदरापे पर पड़ जाती है, तो उन्हें घिन पैदा होती है। यह स्वाभाविक बेबनावटी सौंदर्य ग्राम में ही पाया जाता है। यह सुकुमार पौधा नगर की दूषित वायु के लगने से मुरझा जाता है। राजर्षि दुष्यंत के राज-भवन में कितनी राजमहिषियों के होते हुए भी वल्कल और छाल से तन ढाँपे हुए आरण्य-नारी शकुंतला ही उनको सोहावनी हुई—

"इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी"

यह एक अद्भुत बात है कि जितने शुद्ध पदार्थ हैं, वे बाहरी देखनेवालों को रिझानेवाले गुणों में उनसे कम मालूम होते हैं, जिनमें मिलावट है। शुद्ध सोना उतना न चमकेगा, जितना मिलाया हुआ। अपने बनावटी रूप का अभिमान करनेवालों का अभिमान क्षणिक होता है। जैसा हल्दी का रँगा वस्त्र बड़ा चटकीला होता है, परंतु घाम

के लगते ही सब चटक उसकी एक छिन में बिला जाती है। लावण्य का लालित्य बढ़ाने में स्वाभाविक सौंदर्य सार-पदार्थ है। इसी स्वाभाविक सौंदर्य को हम मुग्ध-माधुरी कहते हैं। रूप की इस मुग्ध-माधुरी का कुछ क्रम ही निराला है कि जो मुखच्छवि रेख भीनते-भीनते पूनों के चाँद-सी सोहती थी, वही जवानी के आते ही मोछों की कालिमा से कलुषित हो सेवार के जाल से ढँपे हुए कमल की शोभा धर लेती है। अस्तु, इस बिगड़ी दशा में भी यह छवि बहुत दिनों तक नहीं रहती। धुआँ से जैसा चित्र, हिमसंहति से जैसा कमल, अँधियारे पाख से जैसा चंद्रमा ढँक जाता है, उसी तरह बुढ़ापे से यह छवि भी आक्रांत हो जाती है। भवभूति महाकवि ने इस मुग्ध-माधुरी का कई जगह बहुत उत्तम चित्र अपने उत्तर-राम-चरित्र में खींचा है। यथा—

"अतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलै-
दशनमुकुलैर्मुग्धालोकं शिशोर्दधतीं मुखम्;
ललितललितैर्ज्योत्स्नाप्रायैरकृत्रिमविभ्रमै-
रकृतमधुरैरम्बानां मे कुतूहलमंगकैः।
अलसलुलितमुग्धान्यध्वसंजातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि;
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यंगकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता।

कविकुलमुकुट कालिदास ने भी पार्वती के कोमल अंगों के वर्णन में कहा है—

असंभृतं मंडनमंगयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य;
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे।
उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्;
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन।

बिहारी ने भी लिखा है—

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबन अंग ;
दीपति-देह दुहून मिल, दिपति ताफता रंग ।
तिय तिथि तरनि किशोर वय, पुन्य काल सम दोनु ;
काहू पुन्यानि पाइयत, बैस-सांधि संक्रोनु ।
चितवनि भोरे भाव की, गोरे मुंह मुसकानि ;
लगनि लटकि आली गरे, चित खटकत नित आनि ।

१४—चरित्र-पालन

चरित्र में कहीं पर किसी तरह का दाग़ न लगने पावे, इस बात की चौकसी का नाम चरित्र-पालन है। हमारे लिये चरित्र-पालन की आवश्यकता इसलिये मालूम होती है कि चरित्र को यदि हम सुधारने की फ़िकर न रक्खें, तो उसे बिगड़ते देर नहीं लगती, जैसे उर्वरा फलवंत धरती में लंबी-लंबी घास और कटीले पेड़ आप-से-आप उग आते हैं और अन्न आदि के उपकारी पौधे बड़े यत्न व परिश्रम के उपरांत उगते हैं। सच तो यों है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति ने चरित्र में विकार पैदा कर देनेवाले इतने तरह के प्रलोभन संसार में उपजा दिए हैं, जिनसे आकर्षित हो मनुष्य बात-की-बात में ऐसा बिगड़ जा सकता है कि फिर यावज्जीवन किसी काम का नहीं रहता। महल के बनाने में कितना यत्न और परिश्रम करना पड़ता है; पर जब वह बनकर तैयार हो जाता है, तो उसे ढहाते देर नहीं लगती। इसी बात पर लक्ष्य कर कवि-शिरोमणि कालिदास ने कहा है—

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।"

अर्थात्—जो बातें विकार पैदा करनेवाली हैं, उनके होते हुए भी जिनके मन में विकार न पैदा हो, वे ही धीर हैं। महाकवि भारवि ने भी ऐसा ही कहा है—

"विक्रिया न खलु कालदोषजा
निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया।"

अर्थात्—निर्मल प्रकृतिवालों में काल की कुटिलता के कारण जो

विकार पैदा होते हैं, वे चिरस्थायी नहीं रहते। चरित्र-रक्षा एक प्रकार की संदली ज़मीन है, जिस पर यश-सौरभ इत्र के समान बनाए जा सकते हैं, अर्थात् जैसे गंधी संदल का पुट देकर हर क़िस्म का इत्र उसमें से तैयार करता है, वैसे ही चरित्र जब आदमी का शुद्ध है, तो वह हर तरह की योग्यता प्राप्त कर सकता है। शुद्ध चरित्रवाला मनुष्य सब जगह प्रतिष्ठा पाता है, और वह जिस काम में सन्नद्ध होता है, उसी में पूर्ण योग्यता को पहुँच हर तरह सरसब्ज़ होता है।

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते ;
एवं चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषं न रक्षति ।

अर्थात्—जैसे मैला कपड़ा पहने हुआ मनुष्य जहाँ चाहता है, वहाँ बैठ जाता है, कपड़ों में दाग़ लग जाने का ख़याल उस आदमी को बिलकुल नहीं रहता, उसी तरह चलितवृत्त अर्थात् जिसके चाल-चलन में दाग़ लग गया है, वह फिर बाक़ी अपने और चरित्रों को भी नहीं बचा सकता, वरन् वह नित्य-नित्य बिगड़ता जाता है। मन, जिह्वा और हाथ का निग्रह चरित्र-पालन का मुख्य अंग है। जिन्होंने मन को कुपथ पर जाने से रोका है, जीभ को दूसरे की चुग़ली-चवाई से या गाली देने से रोका है, और हाथ को दूसरे की वस्तु चुराने से या बेईमानी से ले लेने में रोक रक्खा है, वही चरित्र-पालन में उदाहरण दूसरों के लिये हो सकता है। ऐसा मनुष्य कसौटी में कसे जाने पर खरे-से-खरा निकलेगा।

वरं विन्ध्याटव्यामनशनतृषार्तस्य मरणं
वरं सर्पाकीर्णे तृणपिहितकूपे निपतनम् ;
वरं गर्तावर्ते गहनजलमध्ये विलयनं
न शीलाद्विभ्रंशो भवतु कुलजस्य श्रुतवतः ।

सच है, कुलीन समझदार साक्षर के लिये चरित्र में दाग़ लगना ऐसी ही कड़ी बात है कि उसे अपना जीवन भी बोझ मालूम होने

लगता है। जैसा ऊपर के श्लोक में कवि ने कहा है कि—"विंध्य पहाड़ के वन में भूखा-प्यासा हो मर जाना अच्छा, तिनकों से ढके सर्पों से भरे कुएँ में गिर कर प्राण दे देना श्रेष्ठ, पानी के भँवर में डूबकर बिला जाना उत्तम, पर शिष्ट पढ़े-लिखे मनुष्य का चरित्र से च्युत हो जाना अच्छा नहीं।" रुपया-पैसा हाथ का मैल है, आता-जाता रहता है, किंतु बात गए बात फिर नहीं बनती। इसीलिये धन का दरिद्र, यदि वह सुचरित्र में आढ्य हो तो, दरिद्र नहीं कहा जा सकता; जिनकी आँख का पानी ढरक गया है, उनको चरित्र-पालन कोई बड़ी बात नहीं है, और न इसकी कुछ क़दर उन्हें है; किंतु जो चरित्र को सबसे बड़ा धन माने हुए हैं, वे अत्यंत समय के साथ बड़ी सावधानी से संसार में निबहते हैं। यावत् धर्म, कर्म और परमार्थ-साधन सबका निचोड़ वे इसी को मानते हैं। ऐसे लोग जन-समाज में बहुत कम पाए जाते हैं, हज़ारों में कहीं एक ऐसे होते हैं, और ऐसे ही लोग समाज के अगुआ, राह दिखलानेवाले, आचार्य, गुरु, रसूल या पैग़ंबर हुए हैं और आप्त तथा शिष्ट माने गए हैं। उनके एक-एक शब्द जो मुख से निकलते हैं तथा उनका उठना-बैठना, चलना-फिरना अलग-अलग चरित्र-पालन में उदाहरण होता है। जो प्रतिष्ठा बड़े-से-बड़े राजाधिराज सम्राट्, बादशाह, शाहंशाह को दुर्लभ है, वह चरित्रवान् को सुलभ है, और यह प्रतिष्ठा चरित्र-पालनवाले को सहज ही मिल गई हो, सो नहीं, वरन् सच कहिए तो यह असिधारा-व्रत है; संसार के अनेक सुखों को लात मार बड़े-बड़े क्लेश उठाने के उपरांत मनुष्य इसमें पक्का हो सकता है।

चरित्र से बहुत मिलती हुई दूसरी बात शील है। शील का चरित्र ही में अंतर्भाव हो सकता है। चरित्र-पालन में चतुर शील-संरक्षण में भी प्रवीण हो सकेगा; किंतु शील-संरक्षण में विचक्षण मनुष्य चरित्र-पालन में प्रवीण नहीं हो सकता। अँगरेज़ी में शील के

लिये "कांडक्ट" (Conduct) और चरित्र के लिये "कैरेक्टर" (Character) शब्द हैं। आदमी की बाहरी चाल-चलन का सुधार शील या "कांडक्ट" अथवा "बिहेवियर" (Behaviour) कहा जायगा; किंतु मनुष्य का आभ्यंतर शुद्ध जब तक न होगा, तब तक बाहरी सभ्यता 'चरित्र' नहीं कहलावेगी। श्रीरामचंद्र, युधिष्ठिर, बुद्धदेव तथा महात्मा ईसा के चरित्र-पालन का समाज पर वैसा ही असर होता है, जैसा रक्त-संचालन का शरीर पर। सुस्निग्ध पुष्ट भोजन से जो रुधिर पैदा होता है, वह शरीर को पुष्ट और नीरोग रखता है, वैसा ही जिस समाज में चरित्र-पालन की क़दर है और लोगों को इसका ख़याल है कि हमारा चरित्र दगीला न होने पावे, वह समाज पुष्ट पड़ती जाती है और उत्तरोत्तर उसकी उन्नति होती जाती है। जिस समाज में चरित्र-पालन पर किसी की दृष्टि नहीं है और न किसी को "चरित्र किस तरह पर बनता व बिगड़ता है" इसका कुछ ख़याल है, उस बिगड़ी समाज का भला क्या कहना! कुपथ्य भोजन से विकृत रुधिर पैदा होकर जैसा शरीर को व्याधि का आलय बना नित्य उसे क्षीण, और जर्जर करता जाता है, वैसा ही लोगों के कुचरित्र होने से समाज नित्य क्षीण, निःसत्त्व और जर्जर होती जाती है। जिस समाज में चरित्र की बहुतायत होगी, वह समाज सर्वोपरि दीप्यमान होकर देश और जाति की उन्नति का द्वार होगा। हमारी प्राचीन आर्यजाति चरित्र की खान थी, जिनके नाम से इस समय हिंदू-मात्र पृथ्वी-भर में विख्यात हैं। अफ़सोस! जो क़ौम किसी समय दुनिया के सब लोगों के लिये चरित्र-शिक्षा में नमूना थी, वह आज दिन यहाँ तक गई-बीती हो गई कि दूसरे से सभ्यता और चरित्र-पालन की शिक्षा लेने में अपना अहोभाग्य समझती है! समय खेलाड़ी ने हमें अपना खिलौना बनाकर जैसा चाहा, वैसा खेल खेला। देखें, आगे अब वह कौन खेल खेलता है।

१५—चारु चरित्र

मनुष्य के जीवन का महत्त्व जैसा चारु चरित्र से संपादित होता है, वैसा धन, ऊँचे पद, ऊँचे दरजे की तालीम इत्यादि के द्वारा नहीं हो सकता। समाज में जैसा गौरव, जैसी प्रतिष्ठा या इज़्ज़त, जैसा ज़ोर लोगों के बीच में शुद्ध चरित्रवाले का होता है, वैसा बड़े-से-बड़े धनी और ऊँचे-से-ऊँचे ओहदेवाले का कहाँ? धनवान् या विद्वान् को जो प्रतिष्ठा दी जाती है, या सर्वसाधारण में जो यश या नामवरी उसकी होती है, उसकी स्पर्द्धा सबको होती है। कौन ऐसा होगा, जो अपने वैभव, अपनी विद्या या योग्यता से औरों को अपने नीचे रखने की इच्छा न करता हो? शांति का एक-मात्र आधार केवल चारु चरित्रवाले में अलबत्ता यह नहीं देखा जाता। वह यह कभी नहीं चाहता कि चरित्र के पैमाने में, अर्थात् चरित्र क्या है, इसकी नाप-जोख में, दूसरा हमारे आगे न बढ़ने पावे।

कार्य-कारण का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। इस सूत्र के अनुसार देश या जाति का एक-एक व्यक्ति संपूर्ण देश या जाति की सभ्यता-रूप कार्य का कारण है; अर्थात् जिस देश या जाति में एक-एक मनुष्य अलग-अलग अपने चरित्र के सुधार में लगे रहते हैं, वह समग्र देश-का-देश उन्नति की अंतिम सीमा तक पहुँच सभ्यता का एक बहुत अच्छा नमूना बन जाता है। नीचे-से-नीचे कुल में पैदा हुआ हो, बहुत पढ़ा-लिखा भी न हो, बड़ा सुनीतेवाला भी न हो, न किसी तरह की कोई असाधारण बात उसमें हो; किंतु चरित्र की कसौटी में यदि वह अच्छी तरह कस लिया गया है, तो उस आदरणीय मनुष्य का संभ्रम और आदर समाज में कौन ऐसा कंबख़्त होगा, जो न करेगा; और

ईर्ष्यावश उसके महत्त्व को मुक्त-कंठ हो स्वीकार न करेगा ? नीचे दरजे से ऊँचे को पहुँचने के लिये चरित्र की कसौटी से बढ़कर और कोई दूसरा ज़रिया नहीं है । चरित्रवान् यद्यपि धीरे-धीरे बहुत देर में ऊपर को उठता है, पर यह निश्चित है कि चरित्र-पालन में जो सावधान है, वह एक-न-एक दिन अवश्य समाज का अगुआ मान लिया जायगा । हमारे यहाँ के धर्मप्रवर्तक ऋषि, भिन्न-भिन्न मत या संप्रदायों के चलानेवाले आचार्य, नबी, अंबिया, औलिया आदि सब इसी क्रम पर आरूढ़ रह लाखों-करोड़ों मनुष्यों के 'गुरोर्गुरुः' केवल माननीय-पूजनीय हुए, वरन् कितने उनमें से ईश्वर के अंश और अवतार माने गए ।

यों तो दियानतदारी, सत्य पर अटल विश्वास, शांति, कपट और कुटिलाई का अभाव आदि चरित्र-पालन के अनेक अंग हैं, किंतु बुनियाद इन सब उत्तम गुणों की, जिस पर मनुष्य में चारु चरित्र का पवित्र विशाल मंदिर खड़ा हो सकता है, अपने सिद्धांतों का दृढ़ और उसूलों का पक्का होना है । जो जितना ही अपने सिद्धांतों का दृढ़ और पक्का है, वह उतना ही चरित्र की पवित्रता में यकता होगा । चरित्र की संपत्ति के लिये सिधाई तथा चित्त का अकुटिल भाव भी एक ऐसा बड़ा स्रोत है, जहाँ से विश्वास, अनुराग, दया, मृदुता, सहानुभूति के सरस प्रवाह की अनेक धाराएँ बहती हैं । इनमें से किसी एक धारा में नियम-पूर्वक स्नान करनेवाला मनुष्य भलमनसाहत, सभ्यता, आभिजात्य या कुलीनता तथा शिष्टता का नमूना बन जाता है । क्योंकि चतुराई बिना चित्त की सिधाई के, ज्ञान या विद्या बिना विवेक या अनुष्ठान के, मनुष्य में एक प्रकार की शक्ति अथवा योग्यता अवश्य है, पर वह योग्यता उसकी वैसे ही है जैसे गिरह काटनेवालों में जेब या गाँठ काट रुपए निकाल लेने की योग्यता या चालाकी रहती है ।

आत्मगौरव भी चरित्र का प्रधान अंग है। सुचरित्र-संपन्न ओछा काम करने में सदा संकुचित रहता है। प्रतिक्षण उसे इसके लिये बड़ी चौकसी रखनी पड़ती है कि कहीं ऐसा काम न बन पड़े कि प्रतिष्ठा में हानि हो। उसका एक-एक काम और एक-एक शब्द सभ्य समाज में नेकचलनी के सूत्र के समान प्रमाण में लिया जाता है। जिसके लिये उसने 'हाँ' कहा, फिर उसी के लिये उससे 'नहीं' कहलाना मनुष्य-मात्र की शक्ति के बाहर है। उत्कोच या किसी तरह का लालच दिखलाकर उसके उसूल को बदलवा देना या दृढ़ सिद्धांतों से उसे अलग करना वैसा ही है, जैसा प्रकृति के नियमों का बदल देना। यह कुछ अत्यंत आवश्यक नहीं है कि जो बड़े धनी हैं या किसी बड़े ऊँचे ओहदे पर हैं, वे ही सच्ची शराफ़त या चोखी-से-चोखी सज्जनता अथवा नेकचलनी (Standard) के सूत्र हों। अपितु ग़रीब तथा छोटा आदमी भी सज्जनता की कसौटी में अधिक-तर चोखा और खरा निकल सकता है। किसी ने अच्छा कहा है—

"अक्षीणो वित्ततः क्षीणः वृत्ततस्तु हतो हतः।"

अर्थात्—धन पास न होने से ग़रीब ग़रीब नहीं है, वरन् जो सद्-वृत्त नेकचलनी से रहित है, वही ग़रीब है। धनी सब कुछ अपने पास रखकर भी सब भाँति हीन है; पर निर्धनी पास कुछ न रख-कर भी यदि सद्वृत्त है, तो सब भाँति भरा-पुरा है। उसे भय और नैराश्य कहीं से नहीं है। वही सद्वृत्त-विहीन वित्तवान् को पग-पग में भय है। उसका भविष्य इतना धुँधला है कि जिसका धुँधलापन दूर होने को कहीं से आशा की चमक का नाम नहीं है। दैववश जिसका सब कुछ नष्ट हो गया, पर धैर्य, चित्त की प्रसन्नता, आशा, धर्म पर दृढ़ता, आत्मगौरव और सत्य पर अटल विश्वास बना है, उसका मानो सब बना है। कहीं पर किसी अंश में वह दरिद्र नहीं कहा जा सकता।

एक बुद्धिमान् ने इन बातों को पवित्र चरित्र का मुख्य अंग निश्चय किया है—लंपटता अर्थात् छल-कपट का न होना, रुपए-पैसे के लेन-देन में सफ़ाई, बात का धनी और अपने वादे का सच्चा होना, आश्रितों पर दया, मेहनत से न हटना, अपने निज परिश्रम और पौरुष पर भरोसा रखना, अविकत्थन अर्थात् अपने को बढ़ाकर न कहना—इनमें से एक-एक गुण ऐसे हैं, जिस पर किताब-की-किताब लिखी जा सकती है। चारु चरित्र का एक संक्षेप विवरण हमने कह सुनाया। जिस भाग्यवान् में चरित्र के पूर्ण अंग हैं, उसका क्या कहना! वह तो मनुष्य के तन में साक्षात् देवता या जीवन्मुक्त कोई योगी है। जिन बातों से हमारे में चरित्र आता है, उसकी दो-एक बात भी जिसमें है, वह धन्य और प्रशंसा के योग्य है। हमारे नवयुवकों को चरित्र-पालन में विशेष प्रवणचित्त होना चाहिए। ऊँचे दरजे की शिक्षा बिना चरित्र के सर्वथा निरर्थक है। चरित्र-संपन्न साधारण शिक्षा रखकर जितना उपकार देश या जाति का कर सकता है, उतना सुशिक्षित पर चरित्र का छूछा नहीं करेगा।

१६—आत्मनिर्भरता

आत्मनिर्भरता (अपने भरोसे पर रहना) ऐसा श्रेष्ठ गुण है कि जिसके न होने से पुरुष में पौरुषेयत्व का अभाव कहना अनुचित नहीं मालूम होता। जिनको अपने भरोसे का बल है, वे जहाँ होंगे, जल में तूँबी के समान सबके ऊपर रहेंगे। ऐसों ही के चरित्र पर लक्ष्य कर महाकवि भारवि ने कहा है—

"लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः।"

अर्थात्—तेज और प्रताप से संसार-भर को अपने नीचे करते हुए ऊँची उमंगवाले दूसरे के द्वारा अपना वैभव नहीं बढ़ाना चाहते। शारीरिक बल, चतुरंगिणी सेना का बल, प्रभुता का बल, ऊँचे कुल में पैदा होने का बल, मित्रता का बल, मंत्र-तंत्र का बल इत्यादि जितने बल हैं, निज बाहुबल के आगे सब क्षीणबल हैं, वरन् आत्म-निर्भरता की बुनियाद यह बाहुबल सब तरह के बल को सहारा देनेवाला और उभारनेवाला है। योरप के देशों की जो इतनी उन्नति है, तथा अमेरिका, जापान आदि जो इस समय मनुष्य-जाति के सिरताज हो रहे हैं, इसका यही कारण है कि उन-उन देशों में लोग अपने भरोसे पर रहना या कोई काम करना अच्छी तरह जानते हैं। हिंदुस्तान का जो सत्यानाश है, इसका यही कारण है कि यहाँ के लोग अपने भरोसे पर रहना भूल ही गए। इसी से सेवकाई करना यहाँ के लोगों से जैसी ख़ूबसूरती के साथ बन पड़ता है, वैसा स्वामित्व नहीं। अपने भरोसे पर रहना जब हमारा गुण नहीं, तब क्योंकर संभव है कि हमारे में प्रभुत्व-शक्ति को अवकाश मिले।

निरी क़िस्मत और भाग्य पर वे ही लोग रहते हैं, जो आलसी हैं। किसी ने अच्छा कहा है—

"दैव-दैव आलसी पुकारे।"

ईश्वर भी सानुकूल और सहायक उन्हीं का होता है, जो अपनी सहायता अपने आप कर सकते हैं। अपने आप अपनी सहायता करने की वासना आदमी में सच्ची तरक़्क़ी की बुनियाद है। अनेक सुप्रसिद्ध सत्पुरुषों की जीवनी इसका उदाहरण तो है ही, वरन् प्रत्येक देश या जाति के लोगों में बल और ओज तथा गौरव और महत्त्व (National vigour and strength) के आने का आत्म-निर्भरता सच्चा द्वार है। बहुधा देखने में आता है कि किसी काम के करने में बाहरी सहायता इतना लाभ नहीं पहुँचा सकती, जितनी आत्मनिर्भरता। समाज के बंधन में भी देखिए, तो बहुत तरह के संशोधन सरकारी क़ानूनों के द्वारा वैसा नहीं हो सकते, जैसा समाज के एक-एक मनुष्य का अलग-अलग अपना संशोधन अपने आप करने से हो सकते हैं। कड़े-से-कड़ा क़ानून आलसी समाज को परिश्रमी, अपव्ययी या फ़िज़ूल ख़र्च को किफ़ायतशार या परिमित व्ययशील, शराबी को परहेज़गार, क्रोधी को शांत या सहनशील, सूम को उदार, लोभी को संतोषी, मूर्ख को विद्वान्, दर्पांध को नम्र, दुराचारी को सदाचारी, कदर्य को उन्नतमना, दरिद्र भिखारी को आढ्य, भीरु डरपोक को वीर धुरीण, झूठे गपोड़िए को सच्चा, चोर को सहनशील, व्यभिचारी को एक-पत्नी-व्रतधर इत्यादि नहीं बना सकता; किंतु ये सब बातें हम अपने ही प्रयत्न और चेष्टा से अपने में ला सकते हैं। सच पूछो, तो जाति या क़ौम भी सुधरे हुए ऐसे एक-एक व्यक्ति की समष्टि है। समाज या जाति के एक-एक आदमी यदि अलग-अलग अपने को सुधारें, तो जाति-की-जाति या समाज-की-समाज सुधर जाय।

सभ्यता और है क्या? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आबाल, वृद्ध, वनिता सबोंमें सभ्यता के सब लक्षण पाए जायँ। जिसमें आधे या तिहाई सभ्य हैं, वही जाति अर्द्धशिक्षित कहलाती है। क़ौमी तरक़्क़ी भी अलग-अलग एक-एक आदमी के परिश्रम, योग्यता, सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है। उसी तरह क़ौम की तनज़्ज़ुली क़ौम के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, नीची प्रकृति, स्वार्थ-परता और भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रैंड टोटल है। इन्हीं गुणों और अवगुणों को जाति-धर्म के नाम से भी पुकारते हैं, जैसा सिक्खों में वीरता और जंगली असभ्य जातियों में लुटेरा-पन। जातीय गुणों या अवगुणों को गवर्नमेंट क़ानून के द्वारा रोक दे या जड़-पेड़ से नेस्तनाबूद कर दे, परंतु वे किसी दूसरी शक्ल में न सिर्फ़ फिर से उभड़ आवेंगे, वरन् पहले से ज़्यादा तरोताज़गी और सरसब्ज़ी की हालत में हो जायँगे। जब तक किसी जाति के हरएक व्यक्ति के चरित्र में आदि से मौलिक सुधार न किया जाय, तब तक अव्वल दरजे का देशानुराग और सर्वसाधारण के हित की वांछा सिर्फ़ क़ानून के अदल-बदलपन से या नए क़ानून जारी करने से नहीं पैदा हो सकती। ज़ालिम-से-ज़ालिम बादशाह की हुकूमत में भी रहकर कोई क़ौम ग़ुलाम नहीं कही जा सकती, वरन् ग़ुलाम वही क़ौम है, जिसमें एक-एक व्यक्ति सब भाँति कदर्य, स्वार्थ-परायण और जातीयता के भाव से रहित है। ऐसी क़ौम, जिसकी नस में दास्य-भाव समाया हुआ है, कभी तरक़्क़ी नहीं करेगी, चाहे कैसे ही उदार शासन से वह शासित क्यों न की जाय। तो निश्चय हुआ कि देश की स्वतंत्रता की गहरी और मज़बूत नींव उस देश के एक-एक आदमी के आत्मनिर्भरता आदि गुणों पर स्थित है। ऊँचे-से-ऊँचे दरजे की तालीम बिलकुल बेफ़ायदा है, यदि हम अपने ही सहारे अपनी बेहतरी न कर सकें। जॉन स्टुअर्ट मिल का सिद्धांत है कि—

"राजा का भयानक-से-भयानक अत्याचार देश पर कभी कोई बुरा असर नहीं पैदा कर सकता, जब तक उस देश के एक-एक व्यक्ति में अपने सुधार की अटल वासना दृढ़ता के साथ बद्धमूल है।"

पुराने लोगों से जो चूक और ग़लती बन पड़ी है, उसी का नतीजा वर्तमान समय में हम लोग भुगत रहे हैं। उसी को चाहे जिस नाम से पुकारिए—अथा जातीयता का भाव जाता रहा, एक नहीं हैं, आपस की हमदर्दी नहीं है इत्यादि। तब पुराने क्रम को अच्छा मानना और उस पर श्रद्धा जमाए रखना हम क्योंकर अपने लिये उपकारी और उत्तम मानें। हम तो इसे निरी चंडूख़ाने की गप समझते हैं कि—"हमारा धर्म हमें आगे नहीं बढ़ने देता, अथवा विदेशी राज से शासित हैं, इसी से हम तरक़्क़ी नहीं कर सकते।" वास्तव में सच पूछो, तो आत्मनिर्भरता अर्थात् अपनी सहायता अपने आप करने का भाव हमारे बीच है ही नहीं। यह सब हमारी वर्तमान दुर्गति उसी का परिणाम है, बुद्धिमानों का अनुभव हमें यही कहता है कि मनुष्य में पूर्णता विद्या से नहीं, वरन् काम से होती है। प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनी पढ़ने ही से नहीं, वरन् उन प्रसिद्ध पुरुषार्थी पुरुषों के चरित्र का अनुकरण करने से मनुष्य में पूर्णता आती है। योरप की सभ्यता, जो आजकल हमारे लिये प्रत्येक उन्नति की बातों में उदाहरण-स्वरूप मानी जाती है, एक दिन या एक आदमी के काम का परिणाम नहीं है। जब कई पुश्त तक देश-का-देश ऊँचे काम, ऊँचे ख़याल और ऊँची वासनाओं की ओर प्रबल-चित्त रहा, तब वे इस अवस्था को पहुँचे हैं। वहाँ के हरएक फ़िरक़े, जाति या वर्ण के लोग धैर्य के साथ धुन बाँधके बराबर अपनी-अपनी तरक़्क़ी में लगे हैं। नीचे-से-नीचे दरजे के मनुष्य—किसान, क़ुली, कारीगर आदि—और ऊँचे-से-ऊँचे दरजेवाले—कवि, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ (Politician)—सबोंने मिलकर क़ौमी

तरक्की को इस दरजे तक पहुँचाया है। एक ने एक बात को आरंभ कर उसका ढाँचा खड़ा कर दिया; दूसरे ने उसी ढाँचे पर साबित-क़दम रह एक दरजा और बढ़ाया; इसी तरह क्रम-क्रम से कई पीढ़ी के उपरांत वह बात जिसका केवल ढाँचा-मात्र पड़ा था, पूर्णता और सिद्ध अवस्था तक पहुँच गई। ये अनेक शिल्प और विज्ञान, जिनकी दुनिया-भर में धूम मची है, इसी तरह शुरू किए गए थे, और ढाँचा छोड़नेवाले पूर्वपुरुष अपनी भाग्यवान् भावी संतान को उस शिल्प-कौशल और विज्ञान की बड़ी भारी मीरास या बपौती का उत्तराधिकारी बना गए।

आत्मनिर्भरता या "अपने आप अपनी सहायता" के संबंध में जो शिक्षा हमें खेतिहर, दूकानदार, बढ़ई, लोहार आदि कारीगरों से मिलती है, उसके मुक़ाबले में स्कूल और कॉलेजों की शिक्षा कुछ नहीं है; और यह शिक्षा हमें पुस्तक या किताबों से नहीं मिलती, वरन् एक-एक मनुष्य के चरित्र आत्मदमन, दृढ़ता, धैर्य, परिश्रम, स्थिर अध्यवसाय पर दृष्टि रखने से मिलती है। इन सब गुणों से हमारे जीवन की सफलता है। ये गुण मनुष्य-जाति की उन्नति का छोर है, और हमें जन्म ले क्या करना चाहिए, इसका सारांश है।

बहुतेरे सत्पुरुषों के जीवन-चरित्र धर्म-ग्रंथ के समान हैं, जिनके पढ़ने से हमें कुछ-न-कुछ उपदेश ज़रूर मिलता है। बड़प्पन किसी जाति-विशेष या ख़ास दरजे के आदमियों के हिस्से में नहीं पड़ा। जो कोई बड़ा काम करे या जिससे सर्वसाधारण का उपकार हो, वही बड़े लोगों की कोटि में आ सकता है। वह चाहे ग़रीब-से-ग़रीब या छोटे-से-छोटे दरजे का क्यों न हो, बड़े-से-बड़ा है। वह मनुष्य के तन में साक्षात् देवता है। हमारे यहाँ अवतार ऐसे ही लोग हो गए हैं। सबेरे उठ जिनका नाम भी लेने से दिन-भर के लिये मंगल की गारंटी समझी जाती है, ऐसे महामहिमशाली जिस

कुल में जन्मते हैं, वह कुल उजागर और पुनीत हो जाता है। ऐसों ही की जननी वीरप्रसू कही जाती हैं। पुरुषसिंह-ऐसा एक पुत्र अच्छा, गीदड़ों की ख़ासियतवाले सौ पुत्र भी किस काम के ! पुत्र-जन्म में लोग बड़ी ख़ुशी मनाते हैं, शहनाई बजवाते हैं, फूले नहीं समाते। हमें पछतावा और दुःख होता है कि जहाँ तीस करोड़ गीदड़ थे, वहाँ एक की गिनती और बढ़ी; क्योंकि हिंदुस्तान की हमारी बिगड़ी गिरी क़ौम में सिंह का जन्मना सर्वथा असंभव-सा प्रतीत होता है, और न हम लोगों के ऐसे पुण्य के काम हैं कि हमारे बीच सब सिंह-ही-सिंह जन्म लें। तब हमारी इतनी अधिक बढ़ती जैसी बाल्य-विवाह की कृपा से हो रही है, किस काम की ! सिवा इसके कि हिंदुस्तान की पृथ्वी का बोझ बढ़ता जाय।

समाज में ऐसे-ऐसे कुसंस्कार और निंदित रीतियाँ चल पड़ी हैं कि आत्मनिर्भरता पास तक नहीं फटकने पाती। बहुत तरह के समाज-बंधन तथा खान-पान आदि की क़ैद, जो हमारे पीछे लगा दी गई है, उन सबका यही तो परिणाम हुआ कि आज़ादी, जिस पर आत्मनिर्भरता या किसी दूसरे पौरुषेय गुण की लंबी-चौड़ी इमारत खड़ी हो सकती है, शुरू ही से नहीं आने पाती। जब कि योरप के भिन्न-भिन्न देशों में माँ-बाप अपने लड़कों को तालीम देने के साथ-ही-साथ अपने भरोसे पर ज़िंदगी की किश्ती को किस तरह पर खे ले जाना चाहिए, यह लड़कपन से सिखाते हैं, तब यहाँ दुधमुहे बालक-बालिकाओं का ब्याह कर स्वयं अपने भरण-पोषण तथा अन्य समस्त पौरुषेय गुण की जड़ पर कुल्हाड़ा चलाने का प्रयत्न किया जाता है। योरप के देशों में पिता पुत्र को शक्ति-भर उत्तम-से-उत्तम शिक्षा दे उसे जीवन-संग्राम के लिये तैयार कर देता है, जिसमें वह अपने आप निर्वाह कर सके। वहाँ के माँ-बाप हम लोगों के माँ-बाप की तरह अपने पुत्र के मित्रमुख शत्रु नहीं हैं कि बिना सोचे-समझे लड़क-

पन से चक्की का पाट गले में बाँध उस बेचारे को सब तरह पर हीन, दीन और लाचार कर डालें और आप भी चिता पर पहुँचने तक लड़कों की फ़िकर से सुचित्त न रहें। इतिहास से पूरा पता लगता है कि जब से यहाँ ब्रह्मचर्य की प्रथा उठा दी गई और दुधमुहों का ब्याह जारी कर दिया गया, तब से आज तक बराबर हमारी घटती ही होती जाती है। हम तो यही कहेंगे कि जैसा पाप हमसे बन पड़ता है, उसके मुक़ाबले में हमें कुछ भी दंड नहीं मिलता। दस या बारह वर्ष की कन्याओं के विवाह-रूपी महापाप की इतनी सज़ा मिली, तो कुछ न हुआ। अस्तु, हमारे में आत्मनिर्भरता न होने का बाल्य-विवाह एक बहुत बड़ा प्रधान कारण है। इसी का यह फल है कि हम नया कुआँ खोद नया स्वच्छ पानी पीना जानते ही नहीं।

हमारे देश की कुल आबादी के दस हिस्से में से आठ हिस्सा ऐसा है, जो केवल बाप-दादों की कमाई या परंपरा-प्राप्त जीविका अथवा वृत्ति से निर्वाह करता है। सौ में एक ऐसे मिलेंगे, जो अपने निज बाहुबल और पुरुषार्थ के भरोसे हैं; सो भी उनके सब पुरुषार्थ, करतूत या सपूती का निचोड़ केवल इतना ही है, जैसा किसी कवि ने कहा है—

"अन्नपानजिता दारा सफलं तस्य जीवनम्।"

अर्थात्—सफल जीवन उसी का है, जिसने अन्न-वस्त्र से अपने लड़के और स्त्री को प्रसन्न कर रक्खा है। इतना जिसने किया, वह पक्का सपूत और पुरुषार्थी है।

इधर पचास-साठ वर्षों से अँगरेज़ी राज्य के अमन-चैन का फ़ायदा पा हमारे देशवाले किसी भलाई की ओर न झुके, वरन् दस वर्ष की गुड़ियों का ब्याह कर पहले से ड्योढ़ी-दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे। हमारे देश की जनसंख्या अवश्य घटनी चाहिए और उसके घटाने का

सुगम उपाय केवल बाल्य-विवाह का रुक जाना है। गवर्नमेंट को चाहिए कि वह बाल्य-विवाह को जुर्म में दाख़िल कर पूरे सिन पर आने के पहले जो अपने कन्या या पुत्र का विवाह करे, उसके लिये कोई भारी सज़ा या जुर्माना क़ायम कर दे। तब कदाचित् यह बुराई हम लोगों में से दूर हो; नहीं तो सीधी तरह से ये कभी राह पर नहीं आनेवाले हैं। आत्मनिर्भरता में दृढ़, अपने क़ूवते-बाज़ू पर भरोसा रखनेवाला, पुष्ट-वीर्य, पुष्ट-बल, भाग्यवान् एक संतान अच्छी, कूकर-सूकर-से निकम्मे, रग-रग में दास-भाव से पूर्ण, परभाग्योपजीवी दस किस काम के!

"एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपति निर्भयम्।"

आदमी के लिये आज़ादी एक बेश-क़ीमत मोती है। वह आज़ादी तब ही हासिल हो सकती है, जब हम अनेक तरह की फ़िकर और चिंता से निर्द्वंद्व हों और हमारी तबियत में आत्मनिर्भरता ने दख़ल कर लिया हो। इस दशा में बड़ी-से-बड़ी चिंता और फ़िकर हमें उतनी असह्य न मालूम होगी कि वह हमारी स्वच्छंदता को जड़ से उखाड़ सके। किसी वस्तु का जब बीज बना रहता है, तो उसको फिर बढ़ा लेना सहज है। आत्मनिर्भरता की योग्यता संपादन किए बिना ही हम लोगों के माँ-बाप लड़कपन में अपने लड़कों का ब्याह कर यावज्जीवन के लिये उनकी स्वच्छंदता का बीज नष्ट कर देते हैं। उपरांत उनका शेष जीवन बोझ और अपाढ़ हो जाता है। इँगलैंड और अमेरिका, जो इस समय उन्नति के शिखर पर चढ़े हैं, सो इसीलिये कि वहाँ गृहस्थी करना हरएक आदमी की इच्छा पर निर्भर है। वहाँ माँ-बाप को कोई अधिकार नहीं रहता कि निरे नाबालिग़ का ब्याह कर दें। यही सबब है कि उन-उन देशों में प्रायः सब ही बड़प्पन का दावा कर सकते हैं। हमारे यहाँ भी शंकर, नानक, कबीर, कृष्ण, चैतन्य, बुद्धदेव, तथा हाल में स्वामी दयानंद, जिनका बड़-

ष्पन हम लोग मुक्तकंठ हो स्वीकार करते हैं और जिनका नाम लेते चित्त गद्‌गद हो जाता है, सब-के-सब गृहस्थी के बोझ से स्वच्छंद थे। आत्मनिर्भरता इन महापुरुषों में पूरा प्रभाव रखती थी। किसी का मत है—मुल्क की तरक़्क़ी औरतों की तालीम से होगी; कोई कहता है—विधवा-विवाह जारी होने से भलाई है; कोई कहता है—खाने-पीने की क़ैद उठा दी जाय, तो हिंदू लोग स्वर्ग पहुँच इंद्र का आसन छीन लें; कोई कहता है—विलायत जाने से तरक़्क़ी होगी; कोई कहता है—फ़िज़ूल-ख़र्ची कम कर दी जाय, तो मुल्क अभी तरक़्क़ी की सीढ़ी पर लपकके चढ़ जाय। हम कहते हैं—इन सब बातों से कुछ न होगा, जब तक बाल्य-विवाहरूपी कोढ़ हमारा साफ़ न होगा। हम जानते हैं, हमारा यह रोना-झीखना केवल अरण्यरोदन-मात्र है; फिर भी गला फाड़-फाड़ चिल्लाते रहेंगे, कदाचित् किसी की तबियत पर कुछ असर पैदा हो जाय और आत्मनिर्भरता-ऐसे श्रेष्ठ गुण को हम लोगों के बीच भी प्रकट होने का अवकाश मिले।

२७—चंद्रोदय

अँधेरा पाख बीता, उँजेला पाख आया। पश्चिम की ओर सूर्य डूबा, और चक्राकार हँसिया की तरह चंद्रमा उसी दिशा में दिखलाई पड़ा। मानो कर्कशा के समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचंड ताप से दुःखी हो क्रोध में आ इसी हँसिया को लेकर दौड़ रही है और सूर्य भयभीत हो पाताल में छिपने के लिये जा रहा है। अब तो पश्चिम ओर आकाश सर्वत्र रक्तमय हो गया। क्या सचमुच ही इस कर्कशा ने सूर्य का काम तमाम किया, जिससे रक्त बह निकला? अथवा सूर्य भी क्रुद्ध हुआ, जिससे उसका चेहरा तमतमा गया और उसी की यह रक्त आभा है? इस्लाम-धर्म के माननेवाले नए चंद्र की बहुत बड़ी इज़्ज़त करते हैं, सो क्यों? मालूम होता है, इसीलिये कि दिन-दिन क्षीण होकर नाश को प्राप्त होता हुआ चंद्रमा मानो सबक़ देता है कि रमज़ान में अपने शरीर को इतना सुखाओ कि वह नष्ट हो जाय, तब देखो कि उत्तरोत्तर कैसी वृद्धि होती है। अथवा यह कामरूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महा-मंत्र है; या अंधकार महागज के हटाने का अंकुश है; या विरहिणियों के प्राण कतरने की क़ैंची है; अथवा शृंगार-रस से पूर्ण पिटारे के खोलने की कुंजी है; या तारा-मौक्तिकों से गुथे हार के बीच का यह सुमेरु है; अथवा जंगम जगत्-मात्र को डसनेवाले अनंग-भुजंग के फन पर का यह चमकता हुआ मणि है; या निशा-नायिका के चेहरे की मुसकिराहट है; या संध्या-नारी के काम-केलि के समय उसकी छाती पर लगा हुआ नख-क्षत है; अथवा अभङ्गेला कामदेव की धन्वा है; या तारा-मोतियों की दो सीपियों में से एक सीपी है।

इसी प्रकार दूज से बढ़ते-बढ़ते यह चंद्र पूर्णता को पहुँचा। यह पूनों का पूरा चाँद किसके मन को न भाता होगा? यह गोल-गोल प्रकाश का पिंड देख भाँति-भाँति की कल्पनाएँ मन में उदय होती हैं कि क्या यह निशा-अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है; या उसके कान का कुंडल अथवा फूल है; या रजनी रमणी के लिलार पर बुके का सफ़ेद तिलक है; अथवा स्वच्छ नीले आकाश में यह चंद मानो त्रिनेत्र शिव की जटा में चमकता हुआ कुंद के सफ़ेद फूलों का गुच्छा है। काम-वल्लभा रति की अटा में कूजता हुआ यह कबूतर है; अथवा आकाश-रूपी बाज़ार में तारा-रूपी मोतियों का बेचनेवाला सौदागर है। कुई की कलियों को विकासित करते, मृगनयनियों के मान को समूल उन्मीलित करते, छिटकी हुई चाँदनी से सब दिशाओं को धवलित करते, अंधकार को निगलते चंद्रमा सीढ़ी-दर-सीढ़ी शिखर के समान आकाश-रूपी विशाल पर्वत के मध्य भाग में चढ़ा चला आ रहा है। तपा-तमस्कांड का हटानेवाला यह चंद्रमा ऐसा मालूम होता है मानो आकाश-महासरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है, जिसमें बीच-बीच जो कलंक की कालिमा है, सो मानो भौंरे गूँज रहे हैं। अथवा सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी के स्नान करने की यह बावड़ी है; या कामदेव की कामिनी रति का यह चूना-पोता धवल गृह है; या आकाश-गंगा के तट पर विहार करनेवाला हंस है, जो सोती हुई कुइयों के जगाने को दूत बनकर आया है; या देव-नदी आकाश-गंगा का पुंडरीक है; या चाँदनी का अमृत-कुंड है; अथवा आकाश में जो तारे देख पड़ते हैं, वे सब गौएँ हैं, उनके झुंड में यह सफ़ेद बैल है; या यह हीरे से जड़ा हुआ पूर्व-दिगंगना का कर्णफूल है; या कामदेव के बाणों को चोखा करने के लिये सान धरने का सफ़ेद गोल पत्थर है; या संध्या-नायिका के खेलने का गेंद है। इसके उदय के पहले

सूर्यास्त की किरणों से सब ओर जो ललाई छा गई है, सो मानो फागुन में इस रसिया चंद्र ने दिगंगनाओं के साथ फाग खेलने में अबीर उड़ाई है, वही सब ओर आकाश में छाई हुई है। अथवा निशा-योगिनी ने तारा-प्रसून-समूह से कामदेव की पूजा कर यावत् कामीजनों को अपने वश में करने के लिये छिटकी हुई चाँदनी के बहाने वशीकरण-बुक्का उड़ाया है; अथवा स्वच्छ नीले जल से भरे आकाश-हौदा में काल महागणक ने रात के नापने को एक घटी-यंत्र छोड़ रक्खा है; अथवा जगद्विजयी राजा कामदेव का यह श्वेत छत्र है; वियोगी-मात्र को कामाग्नि में झुलसाने को यह दिनमणि है; कंदर्प-सीमंतिनी रतिदेवी की छप्पेदार करधनी का टिकड़ा है; या उसी में जड़ा चमकता हुआ सफ़ेद हीरा है; या सब कारीगरों के सिरताज आतशबाज़ की बनाई हुई चरखियों का यह एक नमूना है; अथवा महापथगामी समय-राज के रथ को सूर्य और चंद्रमा-रूपी दो पहियों में से यह एक पहिया है, जो चलते-चलते घिस गई है, इसी से बीच में कलाई देख पड़ती है; अथवा लोगों की आँख और मन को तरावट और शीतलता पहुँचानेवाला यह बड़ा भारी बर्फ़ का कुंड है, इसी से वेदों ने परमेश्वर के विराट् वैभव के वर्णन में चंद्रमा को मन और नेत्र माना है; या काल-खिलाड़ी के खेलने का सफ़ेद गेंद है, समुद्र के नीले पानी में गिरने से सूखने पर भी जिसमें कहीं-कहीं नीलिमा बाक़ी रह गई है; या तारे-रूपी मोतीचूर के दानों का यह बड़ा भारी पंसेरा लड्डू है, अथवा लोगों के शुभाशुभ काम का लेखा लिखने के लिये वह बिल्लोर की गोल दावात है; या खड़िया-मिट्टी का बड़ा भारी ढोंका है; या काल-खिलाड़ी की जेबी घड़ी का डायल है; या रजत का कुंड है; या आकाश के नीले गुंबज में यह संगमरमर का गोल शिखर है। शिशिर और हेमंत में हिम से जो इसकी द्युति दब जाती है, सो मानो यह तपस्या कर रहा है, जिसका फल यह चित्रा के

संयोग से शोभित हो चैत्र की पूनो के दिन पावेगा, जब इसकी द्युति फिर दामिन-सी दमकेगी। इसी से कवि-कुल-गुरु कालिदास ने कहा है—

"हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचंद्रमसोरिव।"

१८—भालपट्ट

कवि लोग लिलार की उपमा पटरे से देते हैं। सच पूछो, तो विधना को अपने अमिट अक्षरों के लिखने के लिये यह भालपट्ट ही एक मज़बूत स्लेट मिली है, जिस पर बालिश ब्रह्मा लड़कों की भाँति आज तक खरी-पट्टी लिखने का अभ्यास नहीं छोड़ता और जन्मतुए की छुट्टी के दिन नए-नए भालपट्ट पाकर फिर-फिर बाल-क्रीड़ा का अनुभव किया करता है। बालक तो लिखकर मिटा डाल सकते हैं, पर यह लेख ऐसा अमिट है कि कोई कितनी ही चेष्टा करे, कभी मिट नहीं सकता—

"करम-रेख ना मिटै, करै कोई लाखों चतुराई।"

चतुरानन की चतुराई का चमत्कार कुछ लिलार ही के संबंध में देखा जाता है। अच्छे-अच्छे विद्वान्, गुणवान्, कुल-विद्य भी भाग्य-वान् के सामने हाथ पसारकर दीन बनते हैं। इसी बात पर कुढ़कर किसी कवि ने कहा है—

"भाग्यवन्तं प्रसूयेथाः मा शूरान् मा च पंडितान्।"

धन्य हैं वे भाग्यवान् पुरुष, जिनको हरएक के सामने माथा नहीं नवाना पड़ता, तथा हाथ नहीं पसारना पड़ता। मूर्ख नासमझ को सम-झाकर राह पर लाने को हज़ार-हज़ार माथा पटको, कुछ नहीं होता—

"मूरख को समझाइबो ज्ञान गाठ को जाय।"

"ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति।"

घर में चोरी हो गई, चोर सेंध देकर सब माल-मता ढो ले गए; इधर दौड़े, उधर दौड़े, पुलिस लाए, सौ-सौ तदबीरें कीं, कुछ न हुआ, अंत को माथा ठोक बैठ रहे। यह भालपट्ट मानो भौं के ऊपर

आड़ी बेल की भूमि या ज़मीन है। साँझीबाज़ जानते होंगे कि पहले ज़मीन साफ़ कर तब बेल-बूटे उठाए जाते हैं। अथवा भौं-रूप सोसनी तहरीर के बाद यह लिलार ही ऐसी चौड़ी बेल आ पड़ती है, जिसमें ललनाजन सौभाग्य-सूचक सिंदूर, रोरी या श्याम-मंजनी आदि के रंग-बिरंगे भाँति-भाँति के बूटे जमाकर टिकुली-रूपी बुँदा उसमें जड़, लिलार को पूरी साँझी बना, अपने सौंदर्य को शतगुण विशेष करती हैं। दार्शनिकों के समस्त दर्शनों का आश्रयभूत चित्त अथवा मन दसों इंद्रियों का राजा या प्रभु माना गया है। उस मन का सहकारी तथा ज्ञान या बुद्धि का निवास-स्थान मस्तिष्क है, जो इस लिलार ही में रक्खा गया है। इसी से हमारे शास्त्रकारों ने इसे उत्तमांग माना है। योरप में इसीलिये अपूर्व, अद्भुत प्रतिभावालों का सिर बिकता है। नसीब, क़िस्मत, करम, भाग, लिलार, दिष्ट आदि इसी भालपट्ट के नाम हैं। नसीब के सितारे की चमक को कोई सितारा नहीं पाता। लोग कहते हैं, करम की रेख अमिट है—

"यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः।"

करम की रेख में मेख़ मारना बिरले चतुर सयाने पुरुषार्थियों का काम है। हम भी उसी मेख़ मारने के ख़याल से पढ़नेवालों को भाँति-भाँति की चतुराई दिखाया चाहते हैं कि ग्राहक बढ़ें; पर इस पत्र (हिंदी-प्रदीप) की फूटी क़िस्मत नहीं जगती, लाचारी है!

१६—कल्पना-शक्ति

मनुष्य की अनेक मानसिक शक्तियों में कल्पना-शक्ति भी एक अद्भुत शक्ति है। यद्यपि अभ्यास से यह शतगुण अधिक हो सकती है, पर इसका सूक्ष्म अंकुर किसी-किसी के अंतःकरण में आरंभ ही से रहता है, जिसे प्रतिभा के नाम से पुकारते हैं और जिसका कवियों के लेख में पूर्ण उद्गार देखा जाता है। कालिदास, श्रीहर्ष, शेक्सपियर, मिल्टन प्रभृति कवियों की कल्पना-शक्ति पर चित्त चकित और मुग्ध हो, अनेक तर्क-वितर्क की भूलभुलैया में चक्कर मारता, टकराता, अंत को इसी सिद्धांत पर आकर ठहरता है कि यह कोई प्राक्तन संस्कार का परिणाम है या ईश्वर-प्रदत्त शक्ति (Genius) है। कवियों का अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा ब्रह्मा के साथ होड़ करना कुछ अनुचित नहीं है; क्योंकि जगत्स्रष्टा तो एक ही बार जो कुछ बन पड़ा, सृष्टि-निर्माण-कौशल दिखलाकर आकल्पांत फ़राग़त हो गए; पर कवि-जन नित्य नई-नई रचना के गढ़ंत से न-जाने कितनी सृष्टि-निर्माण-चातुरी दिखलाते रहते हैं।

यह कल्पना-शक्ति कल्पना करनेवाले के हृद्गत भाव या मन के परखने की कसौटी या आदर्श है। शांत या वीर प्रकृतिवाले से शृंगार-रस-प्रधान कल्पना कभी न बन पड़ेगी। महाकवि मतिराम और भूषण इसके उदाहरण हैं। शृंगार-रस में पगी जयदेव की रसीली तबियत के लिये दाख और मधु से भी अधिकाधिक मधुर गीतगोविंद ही की रचना विशेष उपयुक्त थी। राम-रावण या कर्णार्जुन के युद्ध का वर्णन कभी उनसे न बन पड़ता। यावत् मिथ्या और दरोग़ की क़िबलेगाह इस कल्पना-पिशाचिनी का कहीं ओर-छोर

किसी ने पाया है ! अनुमान करते-करते हैरान गौतम-से मुनि "गोतम" हो गए। कणाद किनका खा-खाकर तिनका बीनने लगे ; पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्त्वों की कल्पना करते-करते "कपिल" अर्थात् पीले पड़ गए। व्यास ने इन तीनों महादार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे; यह संपूर्ण विश्व, जिसे हम प्रत्यक्ष देख-सुन सकते हैं, सब कल्पना-ही-कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षण-भंगुर है, अतएव हेय है। उन्हीं की देखादेखी बुद्धदेव ने भी अपने बुद्धत्व का यही निष्कर्ष निकाला कि जो कुछ कल्पनाजन्य है, सब क्षणिक और नश्वर है। ईश्वर तक को उन्होंने इस कल्पना के अंतर्गत ठहराकर शून्य अथवा निर्वाण ही को मुख्य माना। रेखागणित के प्रवर्तक उक़्लैदिस (यूक्लिड) ज्यामिति की हरएक शकल में बिंदु और रेखा की कल्पना करते-करते हमारे सुकुमार-मति इन दिनों के छात्रों का दिमाग़ ही चाट गए। कहाँ तक गिनावें, संपूर्ण भारत-का-भारत इसी कल्पना के पीछे ग़ारत हो गया, जहाँ कल्पना (Theory) के अतिरिक्त करके दिखाने योग्य (Practical) कुछ रहा ही नहीं। योरप के अनेक वैज्ञानिकों की कल्पना को शुष्क कल्पना से कर्तव्यता (Practice) में परिणत होते देख यहाँवालों को हाथ मल-मल पछताना और 'कलपना' पड़ा।

प्रिय पाठक ! यह कल्पना बुरी बला है। चौकस रहो, इसके पेंच में कभी न पड़ना, नहीं तो पछताओगे। आज हमने भी इस कल्पना की कल्पना में पड़ बहुत-सी झूँठी-झूँठी कल्पना कर आपका थोड़ा-सा समय नष्ट किया, क्षमा करिएगा।

२०—प्रतिभा

प्रतिभा बुद्धि का वह गुण और मनुष्य में वह शक्ति है, जो स्वाभाविक होती है और अभ्यास से अधिक-अधिक बढ़ाई जा सकती है। काव्य-रचना इसकी कसौटी है। यह कहना कि विना प्रतिभा के कवि होगा ही नहीं, सर्वथा सुसंगत है। प्रतिभाहीन मनुष्य अभ्यास के बल से दो-चार पद गढ़ ले, तो गढ़ ले, किंतु प्रतिभा न होने से वह निरी गढ़ंत रहेगी, रस उसमें कहीं से न टपकेगा। साहित्य-दर्पण में—

"काव्यं रसात्मकं वाक्यम्"

यह काव्य का लक्षण उस गढ़ंत में सुघटित न होगा। प्रतिभा में भी तारतम्य है। कालिदास में जैसी प्रतिभा थी, वैसी भवभूति, भारवि और श्रीहर्ष में न थी। सूर, तुलसी, बिहारी में जो प्रतिभा थी, वह केशव, मतिराम, भूषण और पद्माकर में न थी। शेक्सपियर और मिल्टन के समान अँगरेज़ी के और कवियों में प्रतिभा कहाँ है? आधुनिक कवि टेनिसन की रचना चाहे अधिक गंभीर और शिक्षाप्रद (Instructive) हो, पर वह रस उनके काव्य में नहीं टपकता, जैसा शेक्सपियर की रचना में है। अस्तु, प्रत्येक कवि की प्रतिभा का तारतम्य एक जुदा विषय है, जिसे हम कभी अलग दिखावेंगे। आज केवल प्रतिभा का स्वरूप-मात्र दिखलाने का हमारा प्रयत्न है। फिर भी इतना यहाँ सूचित किए देते हैं कि प्रतिभा का प्रसाद-गुण के साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध है। कालिदास की प्रतिभा, जो सबसे अधिक मानी गई, सो इसीलिये कि उनकी रचना प्रसाद-गुण-पूर्ण है। कविता में प्रसाद-गुण द्राक्ष-रस के तुल्य है, जो स्वाद में मिस्री से अधिक

मीठा होता है; पर मुख के किसी अवयव को ज़रा भी उससे क्लेश नहीं होता। जीभ पर रक्खा नहीं कि घुट गए और कवियों की रचना में चाहे रस हो भी, तो पद और भाव इतने क्लिष्ट होते हैं कि बिना थोड़ी देर सोचे रस नहीं मिलता।

प्रतिभा केवल कविता ही में नहीं, वरन् और कितनी बातों में भी अपना दख़ल जमाए हुए है। यहाँ के प्रसिद्ध चित्रकार रविवर्मा में चित्रकारी की अद्भुत शक्ति प्रतिभा ही का परिणाम है। योरप तथा एशिया के कईएक प्रसिद्ध विजयी सीज़र, हानेबाल, सिकंदर, नेपोलियन बोनापार्ट, समुद्रगुप्त, रणजीतसिंह आदि सब प्रतिभा-शाली थे, और उनकी प्रतिभा युद्ध-कौशल की थी। बुद्धदेव, शंकर, रामानुज, गुरु नानक, स्वामी दयानंद, ईसा और महम्मद आदि सब प्रतिभावाले महापुरुष थे, और उनकी प्रतिभा नया-नया धर्म चलाने में थी। बहुधा ऐसा भी देखा जाता है कि यह प्रतिभा बराबर वंश-परंपरा तक आती गई है। हमारे यहाँ जो एक-एक पेशेवालों की अलग-अलग एक-एक जाति क़ायम कर दी गई है, उसका यही हेतु है कि उस जाति के मनुष्य में उस पेशे की प्रतिभा बराबर दौड़ती आती है। किसी-किसी में यह पूर्ण रीति से झलक उठती है, और उतने अंश में यत्किंचित् विच्छित्ति-विशेष प्रतिभा ही कही जायगी। मनुष्य में प्रतिभा का होना पुनर्जन्म का बड़ा पक्का सबूत है। क्या कारण कि एक ही शिक्षक दो बालकों को पढ़ाता है, एक में प्रतिभा-विशेष रहने से वह बात, जो गुरु बतलाता है, उसे जल्द आ जाती है, और उस विद्या में वह विशेष चमकता है। दूसरे को गुरु की बतलाई हुई बात आती ही नहीं; आई भी, तो देर में और अधिक परिश्रम के उपरांत। तो निश्चय हुआ कि एक का पूर्व संस्कार, जो अब प्रतिभा के नाम से बदल गया है, स्वच्छ और विमल था और दूसरे का मलिन था, इसी से प्रतिभा उसमें न आई। "अल्पायासं महत्फलम्" अर्थात् "परिश्रम

थोड़ा, फल बहुत अधिक" यह बात प्रतिभा ही में पाई जाती है। छात्र-मंडली में बहुत-से ऐसे पाए जाते हैं, जो थोड़े परिश्रम में बड़े-बड़े दार्शनिक पंडित और कवि हो जाते हैं; पर बहुत-से ऐसे भी होते हैं, जो घोख-घोखकर थक जाते हैं; पर अंतःपात या बोध उन्हें यथावत् नहीं होता। गीता में भगवद्विभूति को गिनाते-गिनाते भगवान् ने कहा—

"हे अर्जुन! अब हम कहाँ तक तुमसे अपनी विभूति गिनाते रहें। जिस मनुष्य में कोई बात असाधारण और लोकोत्तर पाओ, उसे भगवद्विभूति ही मानो।" यह लोकोत्तर चमत्कार प्रतिभा ही है, जिसे कृष्ण भगवान् ने अपनी विभूति कहा है। धन्य हैं वे, जिनमें किसी तरह की प्रतिभा है। सफल जन्म उन्हीं का है।

२१—माधुर्य

'माधुर्य' उस प्रकार के स्वाद को कहते हैं, जो मिठाई या मिठास के नाम से ग्रहण किया जाता है। यद्यपि और भी रस हैं; पर मिठास का जो कुछ अनोखा असर मनुष्य के चित्त पर होता है, वह और दूसरे रसों में नहीं होता। इसी से चित्त को प्रसन्न करनेवाले दूसरे रस भी मधुर या मीठे कहे जाते हैं। देहाती लोग अपनी बोली में कहते हैं—"ज्वार के रोटी भल मिठास है।" तो निश्चय हुआ कि जो मन को भावे या रुचे, वह मिठास है। तब माधुर्य से तात्पर्य यह हुआ कि जो चित्त को कडुआ न मालूम हो—चाहे उसका ज्ञान हमको पाँच इंद्रियों में से किसी भी इंद्रिय के द्वारा हुआ हो—वह मीठा कहलावेगा। कोई अच्छी सूरत, जो नेत्र को सुहावनी मालूम हुई, तो कहते हैं, इसकी रूप-माधुरी चित्त को खींचे लेती है। जो बात कान को भली लगी, जैसा बालकों की तोतली बोली या किसी का प्यारा वचन, तो उसे मीठा वचन कहते हैं। जैसा कहा भी है—

कागा काको धन हरे, कोयल काको देय ;
मीठो बचन सुनायके, जग अपनो कर लेय।

इसी तरह मंदार, मालती, चमेली, जूही आदि की सुगंध को मीठी सुगंध कहते हैं। चंपा, केवड़ा, बेला आदि कई फूलों की महक को कर्कश या कड़ी महक कहते हैं; इसीलिये कि थोड़ी देर में उससे जी ऊब जाता है और फिर उसे अधिक सूँघने को जी नहीं चाहता। मिठास के जहाँ और सब गुण या सिफ़तें हैं, वहाँ एक यह भी है कि उसके चिरकाल और निरंतर सेवन से भी जी नहीं ऊबता; बल्कि यही मन होता है कि वह और भी अधिक मिलती जाय, तो अच्छा

हो। इसी तरह जो वस्तु छूने में कोमल, चिकण और सुखद है, उसे मधुरस्पर्श कहते हैं। महाकवि भवभूति ने स्पर्श-सुख की मिठास को "उत्तर-चरित" के कई श्लोकों में बहुत अच्छी तरह पर दिखाया है। तथथा—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ;
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च संमीलयति च।

जिह्वा के द्वारा जिस मधुरता का अनुभव हम करते हैं, वह प्रत्यक्ष ही है। किसी भाँग-छनते ब्राह्मण या मथुरा के चौबे से इस मधुरता के बारे में पूछ लो, जिनका सिद्धांत है—'जिसे मीठा न रुचता हो, उसकी ब्राह्मणता में कुछ कसर समझना चाहिए।' प्रसाद, ओज, माधुर्य, कविता के इन तीन गुणों में माधुर्य भी एक है। कोकिल-कंठ जयदेव की कविता गीतगोविंद, आदि से अंत तक, माधुर्य-गुण-विशिष्ट है। माधुर्य का गुण दंडी ने काव्यादर्श में इस तरह पर दिया है—

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः ;
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः।

अर्थात्—जिस वाक्य में रस टपकता हो, वह मधुर है। वाक्य से जो अर्थ प्रतिपादित होता है, उसमें भी रस रहता है। शृंगार, करुणा और शांत-रस में माधुर्य, समास का न होना है, या समास हों भी, तो बहुत थोड़े और छोटे-छोटे दो या तीन पद के हों; पर अक्षर सब कोमल हों, टवर्ग आदि मूर्द्धन्य वर्ण न हों। जयदेव के काव्य में ये सब गुण हैं। इसलिये गीतगोविंद माधुर्य का पूर्ण उदाहरण है। हास्य, अद्भुत तथा भयानक रस में माधुर्य तभी आता है, जब ग, ज, द, ब आदि अक्षर बहुत हों और समास भी न बहुत कम, और न बहुत

अधिक हों। वीर, बीभत्स तथा रौद्र-रसों में जब अक्षर बड़े विकट और कड़े हों, और लंबे-लंबे समास हों, तभी माधुर्य पैदा होता है। जैसे भौंरा फूल का रस चूस मतवाला हो जाता है, वैसे ही नागरिक जन (ग्रामीण हल जोतनेवाले नहीं) जिसे सुन मतवाले-से हो उठें, वह रस है। बस, माधुर्य का मुख्य लक्षण यही है। किसी का मत है—

"पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।"

अर्थात्—अलग पदों का होना माधुर्य है। जैसा—

"श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुठति त्वन्मार्गमालोकते।"

अथवा—

"अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः;
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला।"

साहित्य-दर्पणकार माधुर्य का लक्षण यह देते हैं—

"चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।"

अर्थात्—चित्त के पिघलानेवाले मानसिक भावों से जो एक प्रकार का आनंद चित्त में हो, वह "माधुर्य" है। यथा—

लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्;
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि।

उत्तम नायक या नायिका का एक अलंकार भी माधुर्य है। जैसा—

"संक्षोभेष्वप्यनुद्वेगो माधुर्यं परिकीर्तितम्।"

अर्थात्—क्षोभ या घबराहट पैदा करनेवाली बात के होने पर भी चित्त में उद्वेग न होना माधुर्य है। और भी—

"सर्वावस्थाविशेषेपि माधुर्यं रमणीयता।"

अर्थात्—कैसी ही अवस्था में होकर भी जो मन को रमावे, वह माधुर्य है—जैसा शकुंतला के रूप-वर्णन में कालिदास ने लिखा है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति;
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।

माधुर्य का यह विवरण तो वह है, जो कवियों ने निश्चय कर रक्खा है। अब लौकिक बातचीत में जो बात मृदुता-पूर्वक की जाती है, उसमें भी मिठास का शब्द लगाया जाता है। जैसा मीठा बैर, मीठी छुरी, मीठी नींद। नींद में भला क्या मीठापन होगा? किंतु बड़ी देर तक मेहनत के उपरांत लेट गए, एक झपकी-सी आ गई, सब थकावट दूर हो गई, शरीर स्वस्थ और फिर परिश्रम करने को तरो-ताज़ा हो गया। वह "मीठी नींद" कहलाई। इससे तात्पर्य यह निकला कि जो संतोष के बोधक या सुखद पदार्थ हैं, उन सबोंमें मधुर या मिठास का प्रयोग किया जाता है। तो निश्चय हुआ माधुर्य जगत्कर्ता की अद्भुत शक्ति है, जिसके द्वारा सात्त्विक भावों का उद्गार मनुष्य के चित्त पर हुआ करता है। बल्कि यों कहा जाय, तो ठीक हो कि न केवल सात्त्विक ही, बल्कि राजसिक और तामसिक का भी जो उत्तमोत्तम भाग या सारांश है, वह मिठास या माधुर्य के नाम से कहलावेगा; क्योंकि कड़ुए और तीते में भी जो रुचे और अत्यंत स्वादिष्ठ हो, वह भी तो "मिठास है"—ऐसा कहा जाता है। इत्यादि ऊहापोह से निश्चय हुआ कि इस दृश्य-जगत् में जो इंद्रियों को प्रलोभनकारी और मन का आकर्षक हो, वह माधुर्य है।

२२—आशा

हमारे यहाँ के ग्रंथकारों ने 'काम' को मनसिज कहा है। यदि मनसिज-शब्द का अर्थ केवल इतना ही लिया जाय कि "मन में उत्पन्न हुए भाव", तो हमारी समझ में 'आशा' से बढ़कर मीठा फल देनेवाली हृदय की विविध दशाओं में से दूसरी कोई दशा नहीं हो सकती। यद्यपि हमारे यहाँ कवियों ने 'स्मर' की दस दशा माना है, किंतु उस रास्ते को छोड़ मोटे ढंग पर ध्यान दें और मान लें कि 'काम' या तो उस पशु-बुद्धिरूपी मोहांधकार का नाम है, जो मनुष्य के लज्जा, नम्रता आदि गुणों की मीठी रोशनी का नाश कर देता है, और जो इस दशा में मनुष्य-जाति का कलंक है, अथवा वह संसार के सब संभव और असंभव प्यार-मात्र का नमूना है, तब भी हम यह नहीं कह सकते कि इन ऊपर लिखे हुए काम के दो रूपों के पाश में उतने लोग फँसे हों, जितने स्वेच्छया आनंद-पूर्वक अपने को आशा के पाश में बाँधे हुए हैं। 'काम' एक रोग है, जिससे चाहे थोड़ा-सा सुख भी मिलता हो, पर उस रोग के रोगी इसकी दवा अन्यत्र ही ढूँढ़ते हैं। पर 'आशा' को देखिए, तो वह स्वयं एक ऐसे बड़े भारी रोग की दवा है; जिसकी दूसरी दवा सोचना असंभव है। यह रोग नैराश्य है, जिससे दारुणतर क्लेश की दशा मनुष्य के चित्त के लिये हो ही नहीं सकती। इसवास्ते जो हमारे यहाँ की कहावत है कि—

"आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।"

यह हमारी समझ में नहीं आता। यदि वर्ष के भिन्न-भिन्न मौसिमों की तरह मनुष्य के हृदय में भी तरह-तरह की दशाओं का दौरा हुआ करता है और उसमें भी ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर इत्यादि

ऋतु एक दूसरे के बाद आते हैं, तो यही कहना पड़ेगा कि नैराश्य के विकट शीतकाल की रात्रि के बाद आशा ही रूपी ऋतुराज के सूर्य का उदय होता है। हृदय यदि प्रमोद-उद्यान है, तो उसका पूर्ण सुख आशा ही रूपी वसंत ऋतु में होता है।

क्या ईश्वर की महिमा इसमें नहीं देखी जाती कि दुखी-से-दुखी जनों का सर्वस्व चला जाने पर भी आशा से उनका साथ नहीं छूटता। यदि मान और प्रतिष्ठा बहुत बड़ी चीज़ है—जिसको उसके भक्त, धन के चले जाने पर भी, अपने गाँठ में बाँधे रहते हैं—तो सोचना चाहिए कि वह कितनी प्रिय वस्तु होगी, जो दैवात् प्रतिष्ठाभंग होने पर भी मनुष्य के हृदय को ढाढ़स और आराम देती है। आशा को यदि मनुष्य के जीवन-रूपी नौका का लंगर कहें, तो ठीक होगा; क्योंकि जैसे बड़े-से-बड़े तूफ़ान में जहाज़ लंगर के सहारे स्थिर और सुरक्षित रहता है, वैसे ही मनुष्य भी अपने जीवन में घोर विपदाओं को झेलता हुआ आशा के सहारे स्थिर और निश्चलमना बना रहता है। मनुष्य के जीवन में कितना ही बड़ा-से-बड़ा काम क्यों न हो, उसके करने की शक्ति का उद्गम या प्रसव-भूमि यदि इस आशा ही को कहें, तो कुछ अनुचित न होगा; क्योंकि किसी बड़े काम में आशा से बढ़कर बुद्धिमत्ता की अनुमति देनेवाला और कौन मंत्री होगा? मनुष्य के संपूर्ण जीवन को बुद्धिमानों ने विविध भावनाओं के अभिनय की केवल रंगभूमि माना है। परदे के पीछे से धीरे-धीरे वह शब्द बतला देनेवाला, जिससे हम चाहे जो पात्र बने हों और चाहे जिस रस के नाटक का अभिनय अपने चरित्र द्वारा करते हों, उसमें दृढ़ता-पूर्वक लगे रहते हैं, इस आशा के अतिरिक्त दूसरा और कौन (Prompter) है? और भी यदि संसार को भिन्न-भिन्न कलह की रण-भूमि मानें, तो उस अपरिहार्य रण-भूमि में घायलों के घाव पर मरहम रखनेवाला जर्राह आशा ही को कहना चाहिए।

जिस किसी ने संसार में आकर किसी बात का यत्न न किया हो और किसी वस्तु की खोज में अपने को न डाल दिया हो, उससे बढ़कर व्यर्थ और नीरस जीवन किसका होगा ? जब यह बात है, तो बतलाइए, किसी प्रकार के प्रयत्न-मात्र की जान आशा को छोड़ किसी दूसरे को कह सकते हैं ? क्योंकि कैसे संभव है कि मनुष्य किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति के प्रयत्न में लगा हो और आशा से उसका हृदय शून्य हो ? किसी काम के अभिलषित परिणाम में अमृत का गुण भर देना यह शक्ति सिवा आशा के और किसमें है ? संसार में जो कुछ भलाई हुई है या होगी, उस सबका मूल मना प्रयत्न है और इस प्रयत्न की जान आशा है।

क्या झूठी आशा से भी किसी को कुछ दुःख हो सकता है ? क्या झूठी आशा से नैराश्य अच्छा है ? नहीं, नहीं, सच पूछिए, तो ऐसी कोई वस्तु संसार में है ही नहीं, जिससे नैराश्य अच्छा हो, बल्कि नैराश्य से बढ़कर बुरी दशा मन के वास्ते कोई है ही नहीं। यदि आशा केवल मृग-तृष्णा ही है, तब भी वह ना उम्मेदी से अच्छी है। इस आशा-रूपी प्रबल वायु से हृदय-रूपी सागर में जो दूर तक की तरंगें उठती हैं, उन तरंगों की अवधि नज़र में नहीं आ सकती। संसार-मात्र इस आशा की रस्सी से कसा हुआ है। इसे हम कई तरह पर सिद्ध कर चुके हैं।

अब आगे चलिए, स्वर्ग या बैकुंठ क्या है ? मनुष्य के हृदय में भाँति-भाँति की लालसा और आकांक्षा का केवल साक्षी-मात्र। वास्तव में स्वर्ग है या नहीं, इसका तर्क-वितर्क इस समय यहाँ हम नहीं करते। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि स्वर्ग-शब्द की सत्ता ही मनुष्य के लिये प्रबल आशा का सबूत है; क्योंकि जब इस बात को सोचकर चित्त दुःखी होता है कि अपनी बुद्धि के अनुसार जैसा ठीक न्याय चाहिए, वैसा इस संसार में नहीं देखते, तो उसी

चित्त के लिये स्वर्ग के सुखों के द्वारा समझानेवाली आशा को छोड़ और दूसरा कौन गुरु है ? आशा ही एक हमारा ऐसा सच्चा सुहृद् है, जो लड़कपन से अंतकाल तक साथ देता है, और आशा ही के द्वारा उत्पन्न वे भाव हैं, जो हमको मरने के बाद की दशा के बारे में भी सोचने को रुजू करते हैं।

हमको कुछ ऐसा मालूम होता है कि अपने में आशा की दृढ़ता चाहना ही मनुष्य के हृदय की प्राकृतिक दशा है । ध्यान देकर सोचिए, तो नैराश्य की अवस्था मनुष्य के जीवन में केवल क्षणिक है। नैराश्य के भाव मन में उदय होते ही चट आशा का अवलंबन मिल जाता है। कितने थोड़े समय के लिये आदमी नैराश्य को जी में जगह देता है, और कितनी जल्द फिर उसको निकालकर बाहर फेंक देता है। सिर्फ़ यही बात इसका पक्का सबूत है कि प्राकृतिक हित मनुष्य का आशा ही में है। आशा ही वह घुट्टी है, जिसे खाकर आप जो चाहें, वह काम करिए, शिथिलता और आलस्य आपके पास न फटकने पावेगा ; क्योंकि यह असंभव है कि आशा मन में हो, फिर भी मनुष्य शिर नीचा किए हुए रंज में बैठा रहे। आशा की उत्तेजना यदि मन में भरी है, तो ऐसी कातर दशा आने ही न पावेगी। इससे यदि आशा ही को आदमी की ज़िंदगी का बड़ा भारी फ़र्ज़ मानें, तो कुछ अनुचित नहीं है; क्योंकि हम देखते हैं कि आशा ही के विद्यमान रहने पर हम अपने सब फ़र्ज़ों को पूरी-पूरी तरह से अदा कर सकते हैं। पर इसी के साथ ही एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि सामान्य आशा को अपने जीवन की दृढ़ता के लिये अपना साथी रखना और बात है; पर किसी एक बात की प्राप्ति की आशा पर अपने जीवन-मात्र के सुख को निर्भर मानना दूसरी बात है। पहले रास्ते पर चलने से चाहे जीवन में हमें सुख का सामना हो या दुःख का, हम दोनों में एक-सा दृढ़ हैं; किंतु

दूसरे रास्ते पर चलने में यह चूक होगी कि हमने जिस आशा पर अपना बिलकुल सुख छोड़ रक्खा है, वह आशा यदि टूट गई, तो हमारी हानि-ही-हानि है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ ईश्वर ने अनंत ऐसे रास्ते मनुष्य की प्रकृति को दृढ़, सहनशील और विमल करने के खोले हैं, उन रास्तों में आशा ही पर चलकर मनुष्य शनैः-शनैः अपना कार्य सिद्ध करता है। इस कारण मनुष्य को अपनी भलाई के लिये आशा से बढ़कर और क्या हो सकता है, और मित्रगणों को भी, यदि आवश्यकता हो, तो आशा से बढ़कर और कौन भेंट दी जा सकती है ? यदि अंतकाल में चिकित्सक आशा ही के द्वारा रोगी को प्राण-दान तक कर सकता है, तो इससे बढ़कर गुण आप किस चीज़ में पाइएगा। सारांश यह कि इस संसार में अपनी और दूसरे की भलाई का परम आधार आशा ही है, और परलोक तो, हमने जैसा ऊपर कहा, आशा का रूप ही है। अस्तु, हम भी यही आशा करते हैं कि यह लेख आप लोगों को कुछ-न-कुछ रोचक हुआ होगा।

२३—आँसू

मनुष्य के शरीर में आँसू भी गड़े हुए खज़ाने के माफ़िक़ हैं। जैसा कभी कोई नाज़ुक वक़्त आ पड़ने पर संचित पूँजी ही काम देती है, उसी तरह हर्ष, शोक, भय, प्रेम इत्यादि भावों को प्रकट करने में जब सब इंद्रियाँ स्थगित होकर हार मान बैठती हैं, तब आँसू ही उन-उन भावों को प्रकट करने में सहायक होता है। चिर-काल के वियोग के उपरांत जब किसी दिली दोस्त से मुलाक़ात होती है, तो उस समय हर्ष और प्रमोद के उफान में अंग-अंग ढीले पड़ जाते हैं; बाष्प-गद्गद कंठ रुँध जाता है; जिह्वा इतनी शिथिल पड़ जाती है कि उससे मिलने की ख़ुशी को प्रकट करने के लिये एक-एक शब्द मनों बोझ-सा मालूम पड़ता है। पहले इसके कि शब्दों से वह अपना असीम आनंद प्रकट करे, सहसा आँसू की नदी उसकी आँख में उमड़ आती है, और नेत्र के पवित्र जल से वह अपने प्राणप्रिय को नहलाता हुआ उसे बग़लगीर करने को हाथ फैलाता है। सच्चे भक्त और उपासक की कसौटी भी इसी से हो सकती है। अपने उपास्यदेव के नाम-संकीर्तन में जिसे अश्रुपात न हुआ, मूर्ति का दर्शन कर प्रेमाश्रुपात से जिसने उसके चरण-कमलों का अभिषेक न किया, उस दांभिक को भक्ति के आभास-मात्र से क्या फल? सरल कोमल चित्तवाले अपने मनोगत सुख-दुःख के भाव को छिपाने की हज़ार-हज़ार चेष्टा करते हैं कि दूसरा कोई उनके चित्त की गहराई को न थहा सके; पर अश्रुपात भाव-गोपन की सब चेष्टा को व्यर्थ कर देता है। मोती-सी आँसू की बूँदें जिस समय सहसा नेत्र से झरने लगती हैं, उस समय उसे रोक लेना बड़े-

बड़े गंभीर प्रकृतिवालों की भी शक्ति के बाहर होता है। भवभूति ने, जिनको प्रकृति का चित्र अपनी कविता में खींच देना खूब मालूम था, कई ठौर पर अश्रुपात का बहुत उत्तम वर्णन किया है, जिससे यही आशय निकलता है। यथा—

"अयन्ते बाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन् धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः ;
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः।"

"विलुलितमतिपूरैर्बाष्पमानन्दशोक -
प्रभवमवसृजन्ती तृष्णयोत्तानदीर्घा ;
स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते
धवलबहलमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः।"

यदि सृष्टिकर्ता अत्यंत शोक में अश्रुपात को प्राकृतिक न कर देता, तो वज्रपात-सम दारुण दुःख के वेग को कौन सम्हाल सकता? इसी भावार्थ का पोषक भवभूति का नीचे का यह श्लोक बहुत उत्तम है—

"पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया ;
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते।"

अर्थात्—बरसात में तालाब जब लबालब भर जाता है, तो बाँध तोड़ उसका पानी बाहर निकाल देना ही सुगम उपाय बचाव का होता है। इसी तरह अत्यंत शोक से क्षोभित तथा व्याकुल मनुष्य को अश्रुपात ही हृदय को विदीर्ण होने से बचा लेने का उपाय है। बल्कि ऐसे समय रोना ही राहत है। जैसा कि भवभूति ने लिखा है—

इदं विश्वं पाल्यं विधिवदभियुक्तेन मनसा
प्रियाशोको जीवं कुसुममिव घर्मः क्लमयति ;
स्वयं कृत्वा त्यागं विलपनविनोदोऽप्यसुलभ-
स्तदद्याप्युच्छ्वासो भवति ननु लाभो हि रुदितम्।

कोई शूरवीर, जिसको रणचर्चा-मात्र सुन जोश आ जाता है और जो लड़ाई में गोली तथा बाण की वर्षा को फूल की वर्षा मानता है, वीरता के उमंग में भरा हुआ युद्ध-यात्रा के लिये प्रस्थान करने को तैयार है। विदाई के समय विलाप करते हुए अपने कुनबावालों के आँसू के एक-एक बूँद की क्या क़ीमत है, यह वही जान सकता है। वह पशोपेश में पड़ आगे को पाँव रख फिर हटा लेता है। वीर और करुणा—ये दो विरोधी रस अपनी-अपनी ओर से उमड़-उमड़ देर तक उसे किं-कर्तव्यता-मूढ़ किए रहते हैं। आँख में आँसू उन्हीं अकुटिल सीधे सत्पुरुषों के आता है, जिनके सच्चे सरल चित्त में कपट और कुटिलाई ने स्थान नहीं पाया है। निठुर, निर्दयी, मक्कार की आँखें, जिसके कट्टर कलेजे ने कभी पिघलना जाना नहीं, दुनिया के दुःख पर क्यों पसीजेंगी? प्रकृति ने चित्त का आँख के साथ कुछ ऐसा सीधा संबंध रख दिया है कि आँखें चित्त की वृत्तियों को चट पहचान लेती हैं और तत्काल तदाकार अपने को प्रकट करने में देर नहीं करतीं, तो निश्चय हुआ कि जो बेकलेजे हैं, उनकी बैल-सी बड़ी-बड़ी आँखें केवल देखने ही को हैं, चित्त की वृत्तियों का उन पर कभी असर होता ही नहीं। चित्त के साथ आँख केसीधे संबंध को विहारी कवि ने कई दोहों में प्रकट किया है। यथा—

"कोटि जतन कीजै तऊ, नागरि नेह दुरै न;
कहे देत चित चीकनो, नई रुखाई नैन।"
दहैं निगोड़े नैन ये, गहैं न चेत-अचेत;
हौं कसि कै रिस को करौं, ये निरखत हँसि देत।

मृतक के लिये लोग हज़ारों-लाखों ख़र्च कर आलीशान रौज़े, मक़बरे, क़ब्र संगमरमर या संगमूसा की बनवा देते हैं; क़ीमती पत्थर, मानिक, ज़मुर्रद से आरास्ता उन्हें करते हैं; पर वे मक़बरे क्या उसकी रूह को उतनी राहत पहुँचा सकते हैं, जितनी उसके दोस्त आँसू के क़तरे टपकाकर पहुँचाते हैं?

इस आँसू में भी भेद है। कितनों का पनीला कपार होता है, बात कहते रो देते हैं। अक्षर उनके मुख से पीछे निकलेगा, आँसुओं की झड़ी पहले ही शुरू हो जायगी। स्त्रियों के जो बहुत आँसू निकलता है, मानो रोना उनके पास गिरों रहता है, इसका कारण यही है कि वे नाम ही की अबला और अधीर हैं। दुःख के वेग में आँसू को रोकनेवाला केवल धीरज है। उसका टोटा यहाँ हरदम रहता है। तब इनके आँसू का क्या ठिकाना! सत्त्वशाली धीरजवालों को आँसू कभी आता ही नहीं। कड़ी-से-कड़ी मुसीबत में दो-चार क़तरे आँसू के मानो बड़ी बरकत हैं। बहुत मौक़ों पर आँसू ने ग़ज़ब कर दिया है। सिकंदर का क़ौल था कि मेरी माँ की आँख के एक क़तरा आँसू की क़ीमत मैं बादशाहत से भी बढ़कर मानता हूँ। रेणुका के अश्रुपात ही ने परशुराम से २१ बार क्षत्रियों का संहार कराया।

कितने ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें आँसू नहीं आता। इसलिये जहाँ पर बड़ी ज़रूरत आँसू गिराने की हो, तो उनके लिये प्याज़ का गट्ठा पास रखना बड़ी सहज तरकीब निकाली गई। प्याज़ ज़रा-सा आँख में छू जाने से आँसू गिरने लगता है।

"किसी को बैगन बावले, किसी को बैगन पथ्य।"

बहुधा आँसू का गिरना भलाई और तारीफ़ में दाख़िल है। हमारे लिये आँसू बड़ी बला है। नज़ले का ज़ोर है, दिन-रात आँखों से आँसू टपकता है। ज्यों-ज्यों आँसू गिरता है, त्यों-त्यों बीनाई कम होती जाती है। सैकड़ों तदबीरें कर चुके, आँसू का टपकना बंद न हुआ। क्या जाने, बंगाल की खाड़ीवाला समुद्र हमारे ही कपार में आकर भर रहा है। आँख से तो आँसू चला ही करता है। आज हमने जोश में भी आँसू ही पर क़लम चला दी। पढ़नेवाले इसे निरी नहूसत की अलामत न मान हमें क्षमा करेंगे।

२४—लक्ष्मी

पुराणों में लिखा है कि लक्ष्मी का स्वरूप चतुर्भुज है तथा वे कमलासन पर सुशोभित उल्लू पक्षी को अपना वाहन किए हुए हैं। उनके बल और शक्ति का वारापार नहीं है। यद्यपि कईएक महात्माओं ने लिखा है कि लक्ष्मी और सरस्वती का बिरला साथ होता है अर्थात् जो सरस्वती के कृपापात्र होते हैं, वे बहुत कम लक्ष्मी के भी कृपापात्र होते हैं; पर बहुधा सरस्वती के पूर्ण कृपापात्र लक्ष्मी की परवा नहीं करते। उनको इच्छा तो इसके आने की अवश्य होती है, पर कठिनाई यह है कि हर तरह की लक्ष्मी को वे स्वीकार नहीं करना चाहते और शुद्ध रीति पर जैसा वे चाहते हैं, वैसा इसका आगमन होना दुष्कर-सा रहता है। यदि लक्ष्मी महारानी ने कृपा भी की, तो वे लोग उसको वैसा प्यार नहीं करते, जैसा उसके मुख्य कृपापात्र एक-मात्र भक्त उसका आदर करते हैं। उनका कथन यह है—"माता! तुम्हारे रहने ही-मात्र से कुछ उपकार और फ़ायदा नहीं, वरन्—

मेरे कर पैड़ा करो, जित चाहो तित जाव।"

अर्थात्—मेरे हाथ में पहले आओ, जिससे मैं जो चाहूँ, सो मुझे मिल जाय। मेरे हाथ से गुज़रकर सब तुम जहाँ चाहे, वहाँ जाओ, मैं तुम्हें क़ैद कर नहीं रखना चाहता, संसार के कौन-से पदार्थ हैं, जो तुम्हारे द्वारा नहीं मिल सकते, तब तुम्हें क़ैद कर रखने में कौन-सा बड़ा लाभ है। हाँ, उन मनहूसों की तो बात ही निराली है, जिन्हें तुमको क़ैद कर रखने ही में मज़ा मिलता है।

संसार में जितनी बातों से कष्ट मिलता है तथा भय होता है, वे सब लक्ष्मी के आने से ऐसी दूर हो जाती हैं, जैसा वर्षा-काल में आकाश से मेघ उड़ जाते हैं। सच पूछो तो, ऐसा कोई न होगा, जिसको इसकी आकांक्षा न हो। जितना उद्यम मनुष्य करता है, सब इसी के लिये! जब यह महारानी आती हैं, तो इतनी जल्दी और इतने प्रकार से तथा इतने भिन्न-भिन्न द्वार से आती हैं कि इनके कृपापात्र को इनके रखने का ठौर ही नहीं मिलता। ऐसा ही जब ये रूठकर जाने लगती हैं, तो इतनी जल्द चली जाती हैं कि कितना ही थाँभो और गहके पकड़ो, फिर उस भाग्यहीन के पास ये किसी तरह पर नहीं रहतीं। "गजभुक्त कपित्थ" की भाँति वह ऊपर का आडंबर-मात्र रह जाता है और भीतर-भीतर सब ओर से पोला पड़ जाता है। किसी ने अच्छा कहा है—

"समायाति यदा लक्ष्मीर्नारिकेलफलाम्बुवत् ;
विनिर्याति यदा लक्ष्मीर्गजभुक्तकपित्थवत् ।"

अर्थात्—लक्ष्मी जब आती हैं, तो ऊपर से कुछ नहीं मालूम होता; पर भीतर-भीतर मनुष्य अंतःसारवान् होता जाता है। जैसा नारियल के फल में आब; ऊपर से कुछ नहीं मालूम होता, पर भीतर उसके दूध-सा पानी भरा रहता है—पर जब ये जाती हैं, तब हाथी के निगले हुए कैथे की भाँति मनुष्य खुक्ख हो जाता है—हाथी को कैथा दो, तो वह सहिंगे-का-सहिंगा निगल जाता है और वैसा ही समूचा लीद कर देता है, पर भीतर उसके गूदा बिलकुल नहीं रहता। लक्ष्मी की कृपा होते ही यावत् काम सब आरंभ हो जाते हैं—मकान भी छोड़ दिया जाता है—ज़मींदारी भी ख़रीदी जाने लगती है—लड़की-लड़कों के ब्याह में भी ऊँची-से-ऊँची कतरूत होने लगती है। पर धन जाते ही उसके सब काम ऐसे ही अध-कच्चे पड़े रह जाते हैं, जैसा गरमी के दिनों में क्षुद्र नदियाँ सूखके

रह जाती हैं। बहुधा देखा गया है, लक्ष्मी के आने के साथ खूब-सूरती, तरहदारी और कुलीनता भी बढ़ती जाती है और लक्ष्मी के जाने के साथ ही ये तीनों घट जाती हैं।

बहुधा देखने में आया है कि लक्ष्मी का एकांत-भक्त चित्त का उदार नहीं होता। उसको इनसे ऐसा प्रेम हो जाता है कि वह इनको किसी तरह पर अपने पास से नहीं हटने देता। मसल है—"मर जैहौं तोहि न भुजैहौं।" वह लक्ष्मी को यहाँ तक आँखों के ओट नहीं किया चाहता कि चाहे सब कुछ चला जाय तथा जीवन से भी वियोग हो जाय, किंतु धन का वियोग उसे न होने पावे। सूम के पास लक्ष्मी क्यों जाती है, इस पर किसी कवि ने कहा है—

"शूरं त्यजामि वैधव्यादुदारं लज्जया पुनः;
सापत्न्यात्पण्डितमपि तस्मात्कृपणमाश्रये।"

अर्थात्—शूरवीर के पास मैं इसलिये नहीं जाना चाहती कि वह जब अपनी जान पत्ते पर रक्खे हुए लड़ाई में प्राण खोने को उद्यत है, तो उसके जीने का कौन ठिकाना, तब मुझे वैधव्य का दुःख सहना होगा। उदार के पास भी जाते लज्जा होती है कि उदार मुझे सबके सामने फेंका करता है। पंडित के पास इसलिये नहीं जाती कि वहाँ मेरी सौत सरस्वती गाज रही है। इसी से मैं कृपण का सहारा लेती हूँ कि यह मुझे आदर से रक्खेगा।

दूसरी बात यह भी देखी जाती है कि धनी बहुधा मूर्ख होते हैं, सो क्यों—इसको भी किसी कवि ने बड़ी उत्तम रीति पर दर्शाया है—

"पद्मे मूढजने ददासि द्रविणं विद्वत्सु किं मत्सरो
नाहं मत्सरिणी न चापि चपला नैवास्मि मूर्खे रता;
मूर्खेभ्यो द्रविणं ददामि नितरां तत्कारणं श्रूयतां
विद्वान्सर्वजनेषु पूजिततनुर्मूर्खस्य नान्या गतिः।"

कवि कहता है—"लक्ष्मी, तुम मूर्ख के पास जाती हो, पढ़े-लिखे विद्वानों से तुम्हें क्यों ईर्ष्या है, जो वहाँ नहीं जातीं ?" तब लक्ष्मी जवाब देती हैं—"हमें विद्वानों से कोई ईर्ष्या नहीं है, न हम चंचला हैं—मूर्खों को जो हम धन देती हैं, उसका कारण यह है कि विद्वानों का तो सब लोग मान और प्रतिष्ठा करते हैं, मूर्खों को कौन पूछता, यदि हम भी उनके पास न जातीं।"

ऐसी ही लक्ष्मी और सरस्वती के संवाद में अनेक कल्पनाएँ कवियों ने की हैं। उनमें यह एक बड़ी उत्तम है—

"विद्वांसः कृतबुद्धयः सखि मम द्वारि स्थिता नित्यशः
श्रीमन्तोपि मया विना पशुसमास्तस्मादहं श्रेयसी ;
श्रीवाग्देवतयोरमूनि वचनान्याकर्ण्य वधोश्चिरा-
दूचे श्रेयतरे उभे यदि भवेदेको विवेको गुणः।"

लक्ष्मी सरस्वती से कहती हैं—"सखि, विद्वान् पढ़े-लिखे मेरे कृपापात्रों के द्वार पर नित्य हाथ पसारे खड़े रहते हैं।" तब सरस्वती ने कहा—"हाँ ठीक है, पर श्रीमंत भी मेरे न रहने से पशुतुल्य देखे जाते हैं, तब हमीं न अच्छी हुईं।" इस तरह पर विवाद के उपरांत दोनों ने ब्रह्मा को पंच बदा। ब्रह्मा दोनों की बात सुन देर तक सोचने के उपरांत बोले—"तुम दोनों ही अच्छी हो, यदि एक विवेक-गुण रहे तो—अर्थात् विवेक-शून्य न तो लक्ष्मी का कृपापात्र अच्छा, न सरस्वती ही का।"

बुरा-से-बुरा काम—जिसका करनेवाला राजा के यहाँ से दंड पाने योग्य होता है, और जो समाज में अत्यंत घृणित है—उसे भी धन के लिये करते लोग ज़रा नहीं सकुचाते। इसी से उर्दू के नामी शायर सौदा का क़ौल है—

"मादर, पिदर, बिरादर, जो-जो कहो, सो ज़र है।"

फ़ारसी के एक दूसरे शायर का भी ऐसा ही क़ौल है—

"धन ! तू ईश्वर नहीं है, पर जितने दोष हैं, सबोंका ढाँपनेवाला है, और मनुष्य के जीवन में जितनी आवश्यकताएँ हैं, सबोंका पूरा करनेवाला है।"

२५—श्रीशंकराचार्य और गुरु नानकदेव

ये दोनों हिंदुस्तान के प्रसिद्ध पुरुषों में अग्रगण्य और बड़े महात्मा हो गए हैं। पंजाब में जैसे गुरु नानकदेव माननीय हैं, वैसे ही दक्षिण तथा महाराष्ट्र-देश में श्रीशंकराचार्य माने जाते हैं। प्रतिमा-पूजन के सिद्धांतों को काटनेवाले और ईश्वर की निर्गुण उपासना के पोषक दोनों थे। किंतु शंकराचार्य जाति के ब्राह्मण थे, इसलिये ब्राह्मणों के उसकाने से, जिसमें ब्राह्मणों की जीविका में बाधा न पहुँचे, पंचायतन-पूजा अर्थात् विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्ति की पूजा और आराधना फिर से स्थापित की, और बौद्धों को इस देश से निकलवा दिया। इसके विरुद्ध नानकशाह ने ब्राह्मणों का ज़ोर बहुत ही तोड़ दिया, और नाम के माहात्म्य को अधिकाधिक बढ़ाया। सच भी है— नाम-संकीर्तन में लगा हुआ, चित्त का शुद्ध, सीधा-सादा मनुष्य कुटिलचित्त, अविवेकी ब्राह्मण से श्रेष्ठ है। शंकर पूर्ण विद्वान् तथा वेदांत-दर्शन के प्रवर्तक थे। ये उस समय हुए, जब मुसलमानों का ज़ोर न बढ़ने से संस्कृत का पठन-पाठन देश में पूरी तरह जारी था, और देश के हरएक प्रांत में मंडन मिश्र के समान नामी पंडित विद्यमान थे। उस समय शंकर ही का-सा विद्वान् प्रतिष्ठा पा सकता और सर्वग्राह्य हो सकता था। दूसरे यह कि बौद्ध लोग, जिनके मुक़ाबले शंकराचार्य उठ खड़े हुए, बड़े दार्शनिक थे। शंकर ही का-सा सुयोग्य पंडित उनसे पार पा सकता था। इधर नानक जिस समय और जिस देश में हुए, उस समय और उस देश में मुसलमानों का बड़ा अत्याचार था; चाल-चलन, रीति-रवाज, रहन-सहन लोगों के यावनिक हो गए थे; बोली और पहनावे तक में मुसलमानी

छा गई थी। उस समय संस्कृत के पठन-पाठन से कहीं सरोकार न रह गया था। संस्कृत की जगह लोग अरबी व फ़ारसी के बड़े मुल्ला और आलिम होने लगे। ऐसे समय नानक ही-ऐसे अल्पविद्य, किंतु कुशाग्र बुद्धि का काम था कि वे खान-पान के अनेक आचार-विचार पर ध्यान न दे, एक निर्गुण की उपासना के द्वारा हिंदू और मुसलमान दोनों को एक करें। आपस की सहानुभूति और हमदर्दी लोगों में आ जाने की बहुत कुछ उन्होंने चेष्टा की। उसी समय के लगभग जैसा बंगाल में कृष्णचैतन्य महाप्रभु भक्ति और परस्पर के प्रेम के पोषक हो रहे थे और जाति-पाँति के झगड़े को तोड़ रहे थे, वैसा ही पंजाब में गुरु नानक ने जाति-पाँति को फूट की बुनियाद समझ, वर्ण-विवेक को यहाँ तक घटाया कि हिंदू-मुसलमान दोनों को एक कर दिया। हिंदुस्तान के दो प्रांत—बंगाल और पंजाब—जो कुछ-कुछ आगे को बढ़ रहे हैं, यह महाप्रभु कृष्णचैतन्य और गुरु नानक इन्हीं दो महात्माओं के उपदेश का फल है। सारांश यह कि नानक यद्यपि शंकर के-से विद्वान् न थे, किंतु चरित्र की पवित्रता, सौजन्य, आस्तिक्य-बुद्धि में शंकर से किसी अंश में कम न थे।

अब देखना चाहिए कि राजनीतिक विषयों में और मुल्की मामलों में इन दोनों के उपदेश और शिक्षा का क्या फल हुआ। शंकर ने बौद्धों को यहाँ से निकाल शासन की स्थिर शैली में बड़ी खलबली मचा दी और बहुत चाहा कि भारत फिर वैसा ही हो जाय, जैसा वैदिक ऋषियों के समय में था, किंतु भारत उस तरह न होकर आधा तीतर आधा बटेर-सा हो गया। अब इस समय हम लोगों में कर्मकांड-कलाप और यज्ञोपवीत, विवाह आदि की जो पद्धतियाँ प्रचलित हैं, वे सब उस समय की बनी हैं, जब शंकर ने हिंदुस्तान को बौद्धों के हाथ से छुटाकर इसका पुनः संस्कार किया और ब्राह्मणों को फिर पूरी ताक़त मिली। बौद्धों के उच्छिन्न हो जाने से अपनी

मनमानी करने में उनकी रोक-टोक करनेवाला अब कोई न रहा। दूसरे शैव और वैष्णवों का ऐसा विरोध बढ़ा कि फूट को फैलने के लिये पूरा मौक़ा और स्थान मिल गया। इसका फल यही हुआ कि मुल्क में अब तक इतनी कमज़ोरी छाई हुई है कि अँगरेज़ी शासन की शांति और अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार से भी लोगों के कुसंस्कार बदलते ही नहीं। संशोधन का बीज जमने में वही बात याद आती है कि—"जन्म का कोढ़ कहीं एक एतवार से दूर हुआ है।"

शंकर तथा रामानुज न हुए होते, तो मुसलमानों को यहाँ क़दम जमाने में इतनी सुगमता न होती और न मुल्क में इतनी कमज़ोरी फैल जाती। सबसे बड़ी हानि शंकर से वेदांत-दर्शन को हुई, जिसके सिद्धांत बदलकर और-के-और हो गए। वेदांत के प्रवर्तक व्यासदेव का प्रयोजन वेदांत-सूत्रों के बनाने का कुछ और ही था। शंकर उन्हें और ही मतलब पर झुका लाए। व्यासदेव का यह कभी तात्पर्य वेदांत के प्रचलित करने से न था कि इस प्रकार अकर्मण्यता देश में छा जाय और संसार को मिथ्या मान हम स्वयं ब्रह्म बन बैठें। वरंच उनका तात्पर्य यह था कि हम सुख-दुःख को एक-सा समझ अपना काम करने में न चूकें, तथा स्थिर अध्यवसाय, दृढ़ निश्चय, व्यवसायात्मिका बुद्धि को चित्त में हर समय अवकाश देते रहें; दुःख में घबड़ा न उठें और सुख में मारे घमंड के फूल न जायँ; संसार को अस्थिर नश्वर मान कर्मयोग में सदा लगे रहें इत्यादि। गुरु नानक-से बुद्धिमान् ने इन सब बातों को सोच-विचार कबीर के सिद्धांतों को विशेष आदर दिया। किसी ख़ास मज़हब या धर्म में जकड़े रहना राजनीतिक तरक़्क़ी का बड़ा बाधक है। जब तक किसी ख़ास धर्म की पाबंदी हममें लगी रहेगी, तब तक मनुष्य-जाति में साधारण प्रेम, जाति, वात्सल्य, मुल्की तरक़्क़ी के उद्योग में सबके साथ सहमति कभी हो ही नहीं सकती। इसलिये नानक ने हरएक धर्म के बाहरी बनावट

(Forms and ceremonies) को कुछ समझ तथा नाम-संकीर्तन आदि के द्वारा ईश्वर की ओर भक्ति-भाव और आस्तिक्य-बुद्धि को मुख्य समझ, उसी के अनुसार अपने अनुयायियों को चलने के लिये कहा और अपने शिष्यों को वैसी ही शिक्षा दी। अंत को इसका परिणाम यह हुआ कि गुरु गोविंदसिंह और रणजीतसिंह ऐसे नररत्न पंजाब में पैदा हुए, और अब तक भी सिक्खों में जैसा क़ौमी जोश है, वैसा तमाम हिंदुस्तान के किसी प्रांत के लोगों में नहीं है।

शंकराचार्य ने पक्षपात और अपने मत की खींच यहाँ तक रक्खी कि वे सर्वसम्मत न हो सके। गुरु नानक के उदार चित्त में न पक्षपात था और न किसी से विरोध या अपने मत की खींच थी। इसलिये न केवल पंजाब-भर में, वरन् और प्रांत के लोगों में भी वे सर्वसम्मत हुए। अस्तु, ये दोनों महात्मा जैसे रहे हों, सर्वथा माननीय हैं; किंतु इन दोनों के मत के फ़क़ीर, संन्यासी और उदासी देश के अकल्याण के बड़े भारी द्वार हैं। अब भी कहीं-कहीं दो-एक संन्यासी ऐसे देखे जाते हैं, जो विरक्ति, त्याग तथा पांडित्य में संन्यास-आश्रम की शोभा हैं। किंतु उदासी तो बहुधा ऐसे ही पाए जाते हैं, जो विषयासक्ति में गृहस्थों के भी कान काटते हैं। उदासी बहुत बिगड़े हुए हैं; संन्यासी आचरण में कुछ ही उनसे कम हैं। अब तो संन्यासी बनने के लिये केवल गीता की एक पुस्तक पास रहना आवश्यक है; और गुरुमुखी अक्षरों से परिचय रखना, जिससे ग्रंथ साहब का पाठ वह कर ले, उदासी के लिये योग्यता की कसौटी है। ग्रंथ साहब का पाठ करना आता हो, मानो वह गुरु नानक का प्रतिनिधि हो गया। गुरु नानक का हेडक्वार्टर रणजीतसिंह का बनवाया अमृतसर का स्वर्ण-मंदिर है। शंकराचार्यों के प्रधान मठ चार हैं। उनमें से एक 'शृंगेरी-मठ' है, जिसके प्रधान हस्तामलकाचार्य थे। शंकर के दस शिष्यों में पुरी, भारती और सरस्वती नाम के इन तीन संप्रदायवालों के अधिकार

में यह मठ है। यह मठ शृंगगिरि पर्वतपर है, जो रामेश्वर के रास्ते में मदरास-प्रांत में है। दूसरा 'शारदा-मठ' है, जो द्वारका में है। शंकर के सबसे मुख्य शिष्य पद्मपादाचार्य के अधिकार में यह मठ रक्खा गया था। 'तीर्थ' और 'आश्रम' दो संप्रदाय के संन्यासियों के अधिकार में यह मठ है। 'जोशी-मठ' नाम का तीसरा मठ हिमालय में बदरी और केदार के रास्ते में कहीं पर है। तोटकाचार्य इसके प्रधान किए गए थे। गिरि, पर्वत, और सागर तीन संप्रदाय के संन्यासी इसके अधिकारी हैं। चौथा 'गोवर्द्धन-मठ' है, जो जगन्नाथपुरी में है। सुरेश्वराचार्य, जो पहले मंडन मिश्र के नाम से प्रसिद्ध थे, इस मठ के प्रधान किए गए। वन और अरण्य दो संप्रदाय के संन्यासी इसके अधिकारी हैं। इन-इन गद्दियों पर अब जो रहते हैं, वे शंकराचार्य कहलाते हैं और जगद्गुरु की उपाधि उन्हें दी जाती है। मुख्य शंकराचार्य महाराज की यह कभी इच्छा न हुई थी कि हम जगद्गुरु कहलावें; किंतु जो अब उस गद्दी पर बैठते हैं, अपने को जगद्गुरु कहते और मानते हैं। मदरास और बंबई-प्रांत में जगद्-गुरु शंकराचार्य का बड़ा ज़ोर है। सामाजिक और धर्म-संबंधी मामलों में बिना जगद्गुरु की व्यवस्था के कोई काम पंचद्राविड़ों में नहीं हो सकता।

'सौंदर्य-लहरी' आदि अनेक स्तोत्र शंकर के नाम से प्रचलित हैं, पर वे मुख्य शंकर के बनाए नहीं हैं। इससे सिद्ध है कि ये जगद्गुरु शंकराचार्य उत्कृष्ट पंडित होते आए और हैं भी। "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि", "प्रज्ञानमानंदं ब्रह्म" तथा "अयमात्मा ब्रह्म", ये चार महावाक्य इन चार मठों के अलग-अलग माने गए हैं। शंकराचार्य के प्रधान शिष्य पद्मपाद, हस्तामलक, सुरेश्वराचार्य, तोटकाचार्य, समित्पाणि, चिद्विलास, ज्ञानकंद, विष्णुगुप्त, शुद्धकीर्ति, भानुमरीचि, कृष्णदर्शन, बुद्धि-वृद्धि, विरंचिपाद, शुद्धानंद, आनंदगिरि, सुधन्वाराजा, कविराज राजशेखर इत्यादि थे। इसमें संदेह नहीं, बौद्धों के उपरांत शंकराचार्य वर्तमान

हिंदू-धर्म के बड़े पोषक हुए। ये न हुए होते, तो देश-का-देश या बौद्धमतावलंबी बना रहता या सब-के-सब यवन(मुसलमान) हो जा

गुरु नानक की भी तेरह गद्दियाँ हैं, उनके जुदे-जुदे पंथ हैं। इनके अवतार माने गए हैं। चेलों में सबसे मुख्य सुथरा था।